सरस्वती

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त
तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर
प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्,
दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्।

(कर्ण-वचन)

ब्रह्मण्यः सत्यवादी च तपस्वी नियतव्रतः,
रिपुष्वपि दयावांश्च तस्मात् कर्णो वृषः स्मृतः।

(श्रीकृष्णवचन)

बहुनात्र किमुक्तेन संक्षेपात् शृणु पाण्डव,
त्वत्समं त्वद्विशिष्टं वा कर्णं मन्ये महारथम्।

(श्रीकृष्णवचन)

हृदय का निष्कपट, पावन क्रिया का,
दलित तारक, समुद्धारक त्रिया का,
बड़ा बेजोड़ दानी था, सदय था,
युधिष्ठिर ! कर्ण का अद्भुत हृदय था।

(रश्मिरथी : सप्तम सर्ग)

तरण-व्यवस्था :
टलिपुत्र पुस्तक केन्द्र,
० एम्० दास मार्ग,
ना-800004.
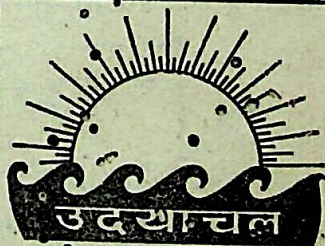
राष्ट्रकवि दिनकर पंथ
राजेन्द्रनगर, पटना-८०००१६

प्रकाशक :
केदार नाथ सिंह,
उदयाचल, राष्ट्रकवि दिनकर पथ
राजेन्द्रनगर, पटना-८०००१६.

संस्करण : १९७९

मूल्य : २ रुपये ५० पैसे मात्र

मुद्रक :
उदयन प्रेस,
राजेन्द्रनगर, पटना-८०००१६.

कथावस्तु

इस पुस्तक का नाम **रश्मिरथी** है, जिसका अर्थ होता है वह व्यक्ति, जिसका रथ रश्मि अर्थात् पुण्य का हो। इस काव्य में रश्मिरथी नाम कर्ण का है, क्योंकि उसका चरित्र अत्यन्त पुण्यमय और प्रोज्ज्वल है।

कर्ण महाभारत महाकाव्य का अत्यन्त यशस्वी पात्र है। उसका जन्म पाण्डवों की माता कुन्ती के गर्भ से उस समय हुआ, जब कुन्ती अविवाहिता थी। अतएव, कुन्ती ने लोकलज्जा से बचने के लिए, अपने नवजात शिशु को एक मंजूषा में बन्द करके, नदी में बहा दिया। वह मंजूषा अधिरथ नाम के सूत को मिली। अधिरथ के कोई सन्तान नहीं थी। इसलिए, उन्होंने इस बच्चे को अपना पुत्र मान लिया। उनकी धर्मपत्नी का नाम राधा था। राधा से पालित होने के कारण ही कर्ण का नाम **राधेय** भी है।

कौरव-पाण्डव का वंश-परिचय यह है कि दोनों महाराज शान्तनु के कुल में उत्पन्न हुए। शान्तनु से कई पीढ़ी ऊपर महाराज कुरु हुए थे। इसलिए, कौरव-पाण्डव, दोनों कुरुवंशी कहलाते हैं। शान्तनु का विवाह गङ्गाजी से हुआ था, जिनसे कुमार देवव्रत उत्पन्न हुए। यही देवव्रत भीष्म कहलाये; क्योंकि चढ़ती जवानी में ही इन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी रहने की भीष्म अथवा भयानक प्रतिज्ञा की थी। महाराज शान्तनु ने निषाद-कन्या सत्यवती से भी विवाह किया था; जिससे उन्हें चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य, दो पुत्र हुए। चित्राङ्गद कुमरावास्था में ही एक युद्ध में मारे गये। विचित्रवीर्य के अम्बिका और अम्बालिका नाम की दो पत्नियाँ थीं, किन्तु, क्षय रोग हो जाने के कारण विचित्रवीर्य भी निःसन्तान ही मरे।

ऐसी अवस्था में वंश चलाने के लिए सत्यवती ने व्यासजी को आमन्त्रित किया। व्यासजी ने नियोग-पद्धति से विचित्रवीर्य की दोनों विधवा पत्नियों से पुत्र उत्पन्न किये। अम्बिका से धृतराष्ट्र और अम्बालिका से पाण्डु जनमे। मातृ-दोष से धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धे और पाण्डु पीलिया के रोगी थे।

अतएव, अम्बिका की प्रेरणा से व्यासजी ने उसकी दासी से तीसरा पुत्र उत्पन्न किया जिसका नाम विदुर हुआ।

राजा धृतराष्ट्र के सौ पुत्र एक ही पत्नी महारानी गान्धारी से हुए थे। महाराज पाण्डु के दो पत्नियाँ थीं, एक कुन्ती, दूसरी माद्री। परन्तु, ऋषि से मिले हुए शाप के कारण वे स्त्री-समागम से विरत थे। अतएव, कुन्ती ने अपने पति की आज्ञा से तीन पुत्र तीन देवताओं से प्राप्त किये। जैसे कुमारावस्था में कुन्ती ने सूर्य-समागम से कर्ण को उत्पन्न किया था, उसी प्रकार विवाह होने पर उसने धर्मराज से युधिष्ठिर, पवनदेव से भीम और इन्द्र से अर्जुन को उत्पन्न किया। माद्री के एक ही गर्भ से दो पुत्र उत्पन्न हुए, एक नकुल, दूसरे सहदेव—ये दोनों भाई भी महाराज पाण्डु के अंश से नहीं, प्रत्युत दो अश्विनीकुमारों के अंश से जनमे थे। पाण्डु के मरने पर माद्री सती हो गयीं और पाँचों पुत्रों के पालन का भार कुन्ती पर पड़ा। माद्री महाराज शल्य की वहन थीं।

प्रथम सर्ग

कौरव और पाण्डव जब छात्रावस्था में थे, तब उन्हें शस्त्रास्त्र की शिक्षा देने के लिए द्रोणाचार्य नियुक्त किये गये। जब कुमारों की शिक्षा पूर्ण हो गयी, तब उनके रण-कौशल का जनता के समक्ष प्रदर्शन करने को एक सार्वजनिक आयोजन किया गया। इसी आयोजन में अचानक कर्ण प्रकट हुआ और चूँकि उस दिन सभा में सबसे अधिक प्रशंसा अर्जुन के शस्त्र-चालन की हुई थी, इसलिए, कर्ण ने अपने साथ भिड़ने की चुनौती भी उसे ही दी। किन्तु कृपाचार्य ने कहा कि जब तक यह विदित नहीं हो जाय कि कर्ण की जाति क्या है तथा वह राजपुत्र है या नहीं, तब तक अर्जुन उसके साथ लड़कर उसे सम्मान नहीं देगा। दुर्योधन को अर्जुन से द्वेष तो था ही, उसने सभा के समक्ष ही कर्ण को अंग देश का राजा बना दिया। फिर भीम और दुर्योधन में गाली-गलौज होने लगी जिसे कृपाचार्य ने रोक दिया।

जब सभा विसर्जित हुई और लोग अपने-अपने घर जाने लगे, तब रास्ते में द्रोणाचार्य ने अर्जुन से कहा कि "अर्जुन! कर्ण तुम्हारा वैरी और प्रतिद्वन्द्वी

होगा। मैंने एकलव्य का अँगूठा तो इसलिए कटवा लिया कि तुम्हारे समान धनुर्धर और कोई नहीं हो। किन्तु, इस कर्ण के साथ क्या वर्ताव करें? एक बात तो ठीक है कि मैं उसे अपना शिष्य नहीं बनाऊँगा।"

जब कृपाचार्य ने सभा में कर्ण की जाति पूछी थी, उस समय कुन्ती परदे के पीछे रनिवास में बैठी हुई थीं। किन्तु, उन्हें इतना साहस नहीं हुआ कि बढ़कर कृपाचार्य से यह कह दें कि कर्ण की माता मैं ही हूँ। फिर भी, शोक के कारण वे मूर्च्छित हो गयीं और जब घर लौटने लगीं, तब रथ तक जाने में भी उनके पाँव डगमगाने लगे।

द्वितीय सर्ग

रंग-ढंग से कर्ण को यह ज्ञात हो चुका था कि द्रोणाचार्य निश्छल होकर उसे धनुर्विद्या नहीं सिखायेंगे। इसलिए, शस्त्रास्त्र सीखने को वह उस समय के महाप्रतापी वीर परशुराम की सेवा में पहुँचा। परशुराम संसार से अलग होकर उन दिनों महेन्द्रगिरि पर रहते थे। उनका भी प्रण था कि 'ब्राह्मणेतर जाति के युवकों को शस्त्रास्त्र की शिक्षा नहीं दूँगा।' किन्तु, जब उन्होंने कर्ण का तेजोदीप्त शरीर और उसके कवच-कुण्डल देखे, तब उन्हें स्वयं भासित हो गया कि यह ब्राह्मण का बेटा होगा और कर्ण ने गुरु की इस भ्रान्ति का खण्डन नहीं किया। कर्ण माँ के पेट से ही सुवर्ण के कवच और कुण्डल पहने जनमा था। शस्त्रास्त्र की शिक्षा तो परशुराम ने उसे खूब दी, लेकिन, एक दुर्भाग्य-पूर्ण घटना ने भण्डाफोड़ कर दिया। वात यह हुई कि एक दिन परशुराम कर्ण की जाँघ पर सिर रखकर सोये हुए थे; इतने में एक कीड़ा उड़ता हुआ आया और कर्ण की जाँघ के नीचे घुसकर घाव करने लगा। कर्ण इस भाव से निश्चल बैठा रहा कि हिलने-डुलने से गुरु की नींद उचट जायेगी। किन्तु, कीड़े ने उसकी जाँघ में ऐसा गहरा घाव कर दिया कि उससे गर्म लहू बह चला। पीठ में लहू का स्पर्श पाते ही परशुराम जग पड़े और सारी स्थिति समझते ही विस्मित हो रहे। उन्हें लगा, इतना धैर्य ब्राह्मण में कहाँ से आ सकता है? अवश्य ही, कर्ण क्षत्रिय अथवा किसी अन्य जाति का युवक है। कर्ण सत्य को

अब छिपा नहीं सका और उसने गुरु के समक्ष सारी बातें स्वीकार कर लीं। इसपर भी परशुराम शान्त नहीं हुए और उन्होंने यह शाप दे डाला कि ब्रह्मास्त्र चलाने की जो शिक्षा मैंने दी है, उसे तू अन्तकाल में भूल जायगा।

तृतीय सर्ग

कौरवों ने द्यूत के छल से पाण्डवों को तेरह वर्षों तक वनवास झेलने को विवश किया था। इन तेरह वर्षों में से बारह वर्षों तक पाण्डव वनों में खुल कर रह सकते थे, किन्तु, तेरहवें वर्ष उन्हें अज्ञात-वास करना था, जिससे उन्हें कोई पहचान न सके। जब अज्ञात-वास भी पूरा हो गया, तब पाण्डव इन्द्रप्रस्थ वापस आये और कौरवों तथा पाण्डवों के बीच सन्धि कराने को भगवान् कृष्ण हस्तिनापुर गये, जो कौरवों की राजधानी थी। लेकिन, सन्धि की कौन कहे, दुर्योधन ने उलटे भगवान् कृष्ण को गिरफ्तार करना चाहा। इसपर भगवान् को क्रोध आ गया और भरी सभा में उन्होंने अपना विराट् रूप प्रकट किया। कहते हैं, उनका क्रुद्ध, विराट् रूप देखते ही लोग मूर्च्छित हो गये। केवल विदुरजी की चेतना ठीक रही। उन्होंने धृतराष्ट्र से कहा, "महाराज! आश्चर्य की बात है कि भगवान् अपने विराट् रूप में विराज रहे हैं।" इसपर धृतराष्ट्र ने अपने अन्धे होने का पश्चात्ताप किया। कहते हैं कि पश्चात्ताप करते ही विराट् रूप देखने तक के लिए उनको दृष्टि मिल गयी।

विराट् रूप समेट कर जब भगवान् कौरवों की सभा छोड़कर चले, तब उन्हें आदर-पूर्वक नगर से कुछ दूर तक पहुँचाने के लिए उनके साथ कर्ण गया था। भगवान् को गिरफ्तार करने की दुरभिसन्धि में कर्ण का भी हाथ था। अतएव, वह लज्जित होकर ही भगवान् के सामने आया था। किन्तु, राजनीति-विशारद कृष्ण ने बाँह पकड़ कर उसे अपने रथ में बिठा लिया और रास्ते में वे उसे समझाने लगे कि "तू वास्तव में, कुन्ती का पुत्र है। अतएव, तुझे चाहिये कि कौरवों को छोड़ कर पाण्डवों के पक्ष में आ जा। तू तो कुन्ती का पहला ही पुत्र है, अतएव, पाण्डवों की ओर से राज्याभिषेक हम तेरा ही करेंगे। सभी पाण्डव तेरे पीछे-पीछे चलेंगे और मैं भी तेरे पीछे ही चलूँगा।"

किन्तु, कर्ण इससे विचलित नहीं हुआ। उसने कहा कि "जो रहस्य आप बतला रहे हैं, उसकी सूचना मुझे सूर्यदेव से पहले ही मिल चुकी है। किन्तु, कुन्ती ने मेरे साथ माता का बर्ताव नहीं किया। जो बात आप आज कह रहे हैं, उसे कुन्ती को उस दिन बतला देना चाहिये था, जिस दिन सबके सामने कृपाचार्य ने मेरी जाति पूछी थी। अब भला कौन विश्वास करेगा कि मैं भी कुन्ती का ही पुत्र हूँ? इससे तो मुझे और अर्जुन, दोनों को कलङ्क लगनेवाला है। इसके सिवा, जरा यह भी तो सोचिये कि दुर्योधन ने मेरे प्रति कैसा निश्छल व्यवहार किया है? अब आज जब उस पर आपदाएँ आयी हैं, मैं उसे कैसे छोड़ सकता हूँ? वह मेरा परम मित्र है और विपत्ति में मित्र का साथ नहीं देना सबसे बड़ा पाप है। मैं राजा बनना नहीं चाहता, न यही चाहता हूँ कि संसार मुझे युधिष्ठिर के अग्रज के रूप में जानकर मेरा सम्मान करे। मैं तो युद्ध के निमित्त तत्पर हूँ, वह इसलिए कि दुर्योधन का मेरे रोम-रोम पर ऋण है और मैं प्राण देकर भी उस ऋण को चुकाना चाहता हूँ। अतएव, अब युद्ध को रोक रखने का प्रयत्न व्यर्थ है। अब तो कोई शुभ दिन देख कर लड़ाई शुरू करा दीजिये।"

चतुर्थ सर्ग

पाण्डवों को बराबर यह भय लगा हुआ था कि जबतक कर्ण प्रकृतिप्रदत्त काञ्चन-कवच और कुण्डल से सुरक्षित है तबतक युद्ध में उसे कोई मार नहीं सकेगा। इसलिए, भगवान् ने अर्जुन के देव-पिता इन्द्र से कहा कि किसी प्रकार कर्ण के शरीर से कवच-कुण्डल अलग कर दो। किन्तु, इन्द्र यह काम कैसे करता? निदान, उसने कर्ण की उदारता को अपने आक्रमण का माध्यम बनाया और उसके पुण्य के द्वार पर ही उसे लूट लिया।

कर्ण अपने समय का अप्रतिम दानवीर था। वह नित्यप्रति एक पहर तक सूर्य की पूजा करता था और उस समय याचक उससे जो कुछ माँगते, कर्ण खुशी-खुशी दे देता था। इन्द्र जब स्थिति का लाभ उठा कर उससे कवच और कुण्डल का दान माँगने आया, सूर्य उसके पूर्व ही कर्ण को सावधान कर चुके थे कि आज इन्द्र ब्राह्मण का रूप धरकर तुमसे कवच-कुण्डल माँगने आयेगा,

तुम देना नहीं। किन्तु, इस चेतावनी का कोई परिणाम नहीं निकला। इ
जब भिक्षुक-ब्राह्मण का वेष बनाकर कर्ण के सामने आया और उससे कव
तथा कुण्डल की याचना की, कर्ण 'नाहीं' न कर सका और सारे षड्यन्त्र
अवगत होते हुए भी उसने कवच-कुण्डल के रूप में अपनी विजय तथा अप
जीवन का दान कर दिया। यह कर्ण के जीवन का सबसे बड़ा दान था।

अपनी लज्जा छिपाने को इन्द्र ने भी कर्ण को एकघ्नी नामक अस्त्र दि
और कहा कि जिस किसी व्यक्ति पर तुम इसे चलाओगे, वह अवश्य मा
जायगा। किन्तु, एक बार से अधिक तुम इसे नहीं चला सकोगे। यही अ
कर्ण ने दुर्योधन के हठ के कारण घटोत्कच पर चलाया। घटोत्कच तो म
गया, किन्तु, एकघ्नी उड़कर इन्द्र के पास चली गयी।

पञ्चम सर्ग

जब कृष्ण के समझाने पर कर्ण नहीं माना और वह पाण्डवों के पक्ष मे
आने को तैयार नहीं हुआ, तब यही प्रस्ताव लेकर कुन्ती उसके पास गयी
कुन्ती कर्ण के समक्ष जाकर उसे पुत्र कहकर पुकारने का साहस नहीं जुटा पाती
थी। वह प्रतिदिन सोचती थी कि अब कर्ण को सब कुछ बताये बिना काम
नहीं चलेगा, किन्तु, अन्त में कर्ण की ओर जाने का उसे हौसला नहीं होता था।
आखिरकार, जब युद्धारम्भ को मात्र एक दिन रह गया, तब वह सारी शक्ति
समेट कर कर्ण के पास गयी और बोली कि "तू मेरा बेटा और पाण्डवों का
बड़ा भाई है, अतएव, इस युद्ध में इन्हीं का नेता बन।" कर्ण ने कुन्ती को
उससे भी कड़ा उत्तर दिया, जैसा उसने भगवान् कृष्ण को दिया था। कुन्ती
बेचारी निरुत्तर हो गयी और यह कहकर जाने लगी कि "सुनती थी कि तू
बहुत बड़ा दानी है। किन्तु, आज माता को ही भीख नहीं मिली।" यह
सुनते ही कर्ण का वीर-हृदय द्रवित हो गया और उसने कहा कि "यदि मेरे द्वार
से कोई खाली हाथ नहीं जाता है, तो तुम भी निराश नहीं जा सकोगी। लो,
मैं तुम्हें यह वचन देता हूँ कि अर्जुन के सिवा अन्य पाण्डवों को हाथ आया
जानकर भी मैं उनका वध नहीं करूँगा। हाँ, अर्जुन हाथ आया, तो उसे
जीवित छोड़ना मेरे वश की बात नहीं है।"

कुन्ती बोली, "यह दान भी कोई दान है ? मैं छह बेटों की माता बनने को आयी थी, सो अब पाँच भी नहीं रहे, केवल चार बेटों की माता बनकर वापस जा रही हूँ।"

इस पर कर्ण भावुकता में आ गया और बोला, "छह और चार का हिसाब गलत है माँ, तुम जब तक जिओगी, पाँच बेटों की माता बनी रहोगी। इस युद्ध में यदि अर्जुन ने मुझे मार डाला, तो पाँचों पाण्डव ज्यों-के-त्यों बने ही रहेंगे। हाँ, यदि अर्जुन मरा और विजय दुर्योधन की हुई, तो मैं दुर्योधन का पक्ष छोड़कर तुम्हारे पास आ जाऊँगा, जिससे पाण्डवों की संख्या पाँच-की-पाँच ही रह जाय।...किन्तु, मैं यह व्यर्थ कह रहा हूँ। जिसके रक्षक स्वयं कृष्ण हैं, उसका विनाश क्यों होगा ?"

षष्ठ सर्ग

भीष्म कर्ण से, प्रत्यक्षतः, घृणा करते थे, जिसका कारण यह था कि दुर्योधन अधिकतर कर्ण के कहने में था। एक प्रकार से दुर्योधन के प्रेम और विश्वास को लेकर भीष्म और कर्ण में भीतर-भीतर प्रतिस्पर्धा चलती थी। अतएव, भीष्म कभी भी कर्ण को मीठी बात नहीं कहते थे। युद्धारम्भ के पूर्व उन्होंने कर्ण के बेटे को तो रथी कहा, कर्ण को 'अर्धरथी' कह दिया। इससे कर्ण बुरा मान गया और उसने कहा कि "अब यह नहीं हो सकता कि आप और मैं एक साथ रण में प्रवेश करें, क्योंकि महारथी के रहते अर्धरथी को वीरता का सुयश नहीं मिलेगा। अतएव, उचित यही है कि पहले आप लड़ लें या मैं युद्ध करूँ।" निश्चित हुआ कि पहले भीष्म लड़ेंगे। और भीष्म जब तक लड़ते रहे, कर्ण ने शस्त्र नहीं उठाया। दस दिनों के बाद जब भीष्म शरशय्या पर गिरे, तब द्रोणाचार्य के सेनापतित्व में कर्ण ने संग्राम में प्रवेश किया।

षष्ठ सर्ग का आरम्भ इसी प्रसंग से होता है, जब कर्ण युद्धारम्भ करने के पूर्व पितामह से आज्ञा लेने को उनके समीप जाता है। भीष्म कहते हैं कि अब युद्ध समाप्त हो जाना चाहिये। किन्तु, रणोन्मत्त कर्ण उनका उपदेश नहीं मानता। वह युद्ध में प्रवेश करता है और पाण्डवी सेना को तहस-नहस कर डालता है।

इसी प्रसङ्ग में इस बात की विचिकित्सा की गयी है कि महाभारत का युद्ध धर्मयुद्ध था या नहीं ; उपसंहार यह निकलता है कि कोई युद्ध धर्मयुद्ध नहीं हो सकता। युद्ध के आदि, मध्य और अन्त, सब पापयुक्त होते हैं। जब हिंसा आरम्भ हो गयी, तब धर्म कहाँ रहा ? युद्ध मनुष्य इसलिए करता है कि वह जल्दी से अपना लक्ष्य प्राप्त कर ले। किन्तु लक्ष्य की प्राप्ति को धर्म नहीं कहते। धर्म तो लक्ष्य की ओर सन्मार्ग से चलने का नाम है ; धर्म साध्य नहीं साधन को देखता है। किन्तु, युद्ध में प्रवृत्त होने पर मनुष्य का ध्यान साधन पर नहीं रहता, वह किसी भी प्रकार विजय चाहने लगता है। और यही आतुरता उसे पाप के पङ्क में ले जाती है। फिर क्या आश्चर्य कि युद्ध में प्रवृत्त होने पर, कौरव और पाण्डव, दोनों ने पाप किये, दोनों ने विजय-बिन्दु तक पहले पहुँच जाने को सन्मार्ग का त्याग किया ?

इसके बाद, घटोत्कच-वध की कथा आती है। कर्ण का पाण्डव-सेना पर भयानक कोप देखकर भगवान् घटोत्कच को बुलाते हैं। उसके युद्ध में प्रवेश करते ही कौरवों की सेना में हाहाकार मच जाता है और दुर्योधन कर्ण से कहने लगता है कि अर्जुन का मस्तक तो अभी दूर है, यदि एकघ्नी चलाकर तुमने घटोत्कच का तुरत वध नहीं किया, तो हार तो अभी हुई जाती है।

निदान, कर्ण एकघ्नी का प्रयोग करता है। घटोत्कच की मृत्यु होती है। कौरवों के बीच हर्षोल्लास छा जाता है और पाण्डव रोने लगते हैं। परन्तु दो व्यक्ति हैं, जिनका हँसना और रोना विशेष अर्थ रखता है। पाण्डवों की सेना में आर्त्तनाद है, किन्तु भगवान् कृष्ण जी खोल कर हँस रहे हैं। कौरवों की सेना में उल्लास है, किन्तु, उसका प्रधान वीर कर्ण ऐसा दीखता है, मानो उसका सर्वस्व लुट गया हो।

सप्तम सर्ग

घटोत्कच - वध के बाद द्रोणाचार्य का निधन हुआ। द्रोणाचार्य के बाद कर्ण के सेनापतित्व की बारी आयी।

कर्ण पिपरीत परिस्थितियों में लड़ा। कवच-कुण्डल तो वह पहले ही इन्द्र को दे चुका था। इन्द्र से एकघ्नी नामक जो अस्त्र उसे मिला था, वह भी घटोत्कच को मारकर उसके पास से चला गया था। फिर, कुन्ती को उसने वचन दिया था कि अर्जुन के सिवा और पाण्डवों का वध मैं नहीं करूँगा। इस पर, शल्य को उसने सारथी बनाया। शल्य युधिष्ठिर का मामा था और पाण्डवों ने शल्य को सिखा रखा था कि जब आप कर्ण का रथ हाँकिये तब उसे दुर्वचन कहते रहिये जिससे उसका तेज मन्द होता जाय।

तब भी, कर्ण का पाण्डवी सेना पर भयानक आक्रमण हुआ और पाण्डवी पक्ष के वीर उसका जवाब नहीं दे सके। कर्ण आज प्राणपण से लड़ रहा था। उसकी इच्छा थी कि अर्जुन और कृष्ण, दोनों को युद्ध-बन्दी बना कर समरभूमि में ही दुर्योधन का जय-तिलक सजा दिया जाय। जब वह उत्साह से लड़ रहा था, उसी समय धर्मराज युधिष्ठिर उसके सामने पड़ गये। युधिष्ठिर को उसने पकड़ तो लिया, किन्तु, कुन्ती को दिये गये वचन को याद करके उसने उन्हें छोड़ दिया। उस दिन, इसी प्रकार, भीम, नकुल और सहदेव भी उसके वश में आ गये और कर्ण चाहता तो उन्हें मार डालता। किन्तु, कुन्ती के कारण उसने चारों को जीवित छोड़ दिया।

इसी स्थिति से किञ्चित् कुपित होकर, किन्तु, वास्तव में, कर्ण का अपमान करने के लिए शल्य कहता है कि "तू जो इस प्रकार पाण्डवों को छोड़े जा रहा है, इससे मालूम होता है कि तू अर्जुन के बाणों से डरकर कायर हो रहा है।" कर्ण कहता है कि "मैंने चारों पाण्डवों को छोड़ दिया, यह भेद बताने लायक नहीं है। यह तो व्रत की वेदना है जिसे मैं भीतर-ही-भीतर सहूँगा। मैंने इन चार वीरों को नहीं छोड़ा है, प्रत्युत, पुण्य के चार फूल भगवान् के चरणों पर चढ़ा दिये हैं।"

इतने में अर्जुन से उसका सामना होता है। अर्जुन को वह एक बार मूर्च्छित कर देता है। किन्तु, अर्जुन मूर्च्छा से जाग कर फिर भयानक संग्राम में प्रवृत्त हो जाता है। कर्ण और अर्जुन का यह संग्राम ऐसा घनघोर है कि दोनों पक्षों के वीर लड़ना छोड़कर इन्हीं का युद्ध-देखने लग जाते हैं।

इसी बीच अश्वसेन सर्प आता है और कर्ण से प्रार्थना करता है कि "मुझे तू अपने बाण पर चढ़ा कर अर्जुन पर फेंक तो सही ; मैं अभी उसका खात्मा किये देता हूँ और तुझे विजय अनायास मिल जाती है।" महाभारत में लिखा है कि कर्ण ने अश्वसेन की सहायता यह कह कर अस्वीकृत कर दी कि "साँप की सहायता से यदि एक सौ अर्जुनों का वध होता हो, तो भी मैं यह सहायता स्वीकार नहीं करूँगा। जो पतित, पामर, अनाचारी और मानवता का शत्रु है, वह तो मेरा भी शत्रु ठहरा, फिर उसकी सहायता लेकर मैं अपने पुण्य को क्यों नष्ट करूँ ?"

इसके बाद, भगवान् कृष्ण कर्ण की शूरता की प्रशंसा करते हैं और साथ ही साथ अर्जुन को कर्ण के विरुद्ध उत्तेजित भी। इतने में कर्ण को अपनी मृत्यु का पूर्वाभास होता है और वह काल को धमकाकर शल्य से कहता है कि अब मेरा रथ वहाँ ले चलो जहाँ कृष्ण और अर्जुन के साथ पाण्डव-पक्ष के सभी नामी वीर वर्त्तमान हों। आज साकार प्रलय के बीच घमासान मचाते हुए मैं मृत्यु का वरण करूँगा।"

शल्य रथ को भगवान् के सामने ले जाता है। यहीं अभिशाप के कारण कर्ण के रथ के पहिये धरती में धँस जाते हैं और किसी प्रकार निकाले नहीं निकलते। कर्ण रथ से नीचे उतर कर उसे निकालने में तत्पर होता है कि भगवान् कृष्ण का संकेत पाकर अर्जुन उसे निःशस्त्र अवस्था में ही, बाणों से बींधने लगता है। यहाँ कर्ण और कृष्ण का थोड़ा संवाद है, जिसमें दोनों पक्ष दोनों पक्षों पर दोषारोपण करते हैं। संवाद समाप्त होते-होते कर्ण अपने पुण्यबल का आह्वान करता है और सूर्य की ओर दृष्टि करके वह मृत्यु के लिए तैयार हो जाता है। अर्जुन के लिए यह अच्छा अवसर है। उसका एक बाण आकर कर्ण के गले में लगता है और कर्ण के प्राण तेजोमय रूप में उड़ कर सूर्य में समा जाते हैं।

सर्ग का अन्त युधिष्ठिर और कृष्ण के संवाद में होता है। युधिष्ठिर कर्ण की मृत्यु पर हर्ष प्रकट करते हैं, किन्तु भगवान् उदास हो जाते हैं। उनका कहना है कि "यह विजय चरित्र खो कर प्राप्त हुई है। जीत असल में कर्ण की हुई है। यह भूल जाइये कि कर्ण हमारा शत्रु था। वह द्रोण और भीष्म के समान आदर का पात्र है।"

□□□

प्रथम सर्ग

'जय हो' जग में जले जहाँ भी, नमन पुनीत अनल को,
जिस नर में भी बसे, हमारा नमन तेज को, बल को।
किसी वृन्त पर खिले विपिन में, पर, नमस्य है फूल,
सुधी खोजते नहीं गुणों का आदि, शक्ति का मूल।

ऊँच-नीच का भेद न माने, वही श्रेष्ठ ज्ञानी है,
दया-धर्म जिसमें हो, सबसे वही पूज्य प्राणी है।
क्षत्रिय वही, भरी हो जिसमें निर्भयता की आग,
सबसे श्रेष्ठ वही ब्राह्मण है, हो जिसमें तप-त्याग।

तेजस्वी सम्मान खोजते नहीं गोत्र बतलाके,
पाते हैं जग से प्रशस्ति अपना करतब दिखलाके।
हीन मूल की ओर देख जग गलत कहे या ठीक,
वीर खींचकर ही रहते हैं इतिहासों में लीक।

जिसके पिता सूर्य थे, माता कुन्ती सती कुमारी,
उसका पलना हुआ धार पर बहती हुई पिटारी।
सूत-वंश में पला, चखा भी नहीं जननि का क्षीर,
निकला कर्ण सभी युवकों में तब भी अद्भुत वीर।

तन से समरशूर, मन से भावुक, स्वभाव से दानी,
जाति-गोत्र का नहीं, शील का, पौरुष का अभिमानी।
ज्ञान-ध्यान, शस्त्रास्त्र, शास्त्र का कर सम्यक् अभ्यास,
अपने गुण का किया कर्ण ने आप स्वयं सुविकास।

अलग नगर के कोलाहल से, अलग पुरी-पुरजन से,
कठिन साधना में उद्योगी लगा हुआ तन-मन से।
निज समाधि में निरत, सदा निज कर्मठता में चूर,
वन्य कुसुम-सा खिला कर्ण जग की आँखों से दूर।

नहीं फूलते कुसुम मात्र राजाओं के उपवन में,
अमित बार खिलते वे पुर से दूर कुञ्ज-कानन में।
समझे कौन रहस्य? प्रकृति का बड़ा अनोखा हाल,
गुदड़ी में रखती चुन-चुन कर बड़े कीमती लाल।

जलद-पटल में छिपा, किन्तु, रवि कबतक रह सकता है?
युग की अवहेलना शूरमा कबतक सह सकता है?
पाकर समय एक दिन आखिर उठी जवानी जाग,
फूट पड़ी सबके समक्ष पौरुष की पहली आग।

रङ्ग-भूमि में अर्जुन था जब समाँ अनोखा बाँधे,
बढ़ा भीड़-भीतर से सहसा कर्ण शरासन साधे।
कहता हुआ, "तालियों से क्या रहा गर्व में फूल?
अर्जुन! तेरा सुयश अभी क्षण में होता है धूल।

"तूने जो-जो किया, उसे मैं भी दिखला सकता हूँ,
चाहे तो कुछ नयी कलाएँ भी सिखला सकता हूँ।
आँख खोलकर देख, कर्ण के हाथों का व्यापार,
फूले सस्ता सुयश प्राप्त कर, उस नर को धिक्कार।"

इस प्रकार कह लगा दिखाने कर्ण कलाएँ रण की,
सभा स्तब्ध रह गयी, गयी रह आँख टँगी जन-जन की।
मन्त्र-मुग्ध-सा मौन चतुर्दिक् जन का पारावार,
गूँज रही थी मात्र कर्ण की धन्वा की टङ्कार।

फिरा कर्ण, त्यों 'साधु - साधु' कह उठे सकल नर - नारी।
राजवंश के नेताओं पर पड़ी विपद् अति भारी।
द्रोण, भीष्म, अर्जुन, सब फीके, सब हो रहे उदास,
एक सुयोधन बढ़ा बोलते हुए, "वीर! शाबाश!"

द्वन्द्व - युद्ध के लिए पार्थ को फिर उसने ललकारा,
अर्जुन को चुप ही रहने का गुरु ने किया इशारा।
कृपाचार्य ने कहा—"सुनो हे वीर युवक अनजान!
भरत - वंश - अवतंस पाण्डु की अर्जुन है सन्तान।

"क्षत्रिय है, यह राजपुत्र है, यों ही नहीं लड़ेगा,
जिस - तिस से हाथापाई में कैसे कूद पड़ेगा?
अर्जुन से लड़ना हो तो मत गहो सभा में मौन,
नाम - धाम कुछ कहो, बताओ कि तुम जाति हो कौन?"

'जाति! हाय री जाति!' कर्ण का हृदय क्षोभ से डोला,
कुपित सूर्य की ओर देख वह वीर क्रोध से बोला—
"जाति - जाति रटते, जिनकी पूँजी केवल पाषण्ड,
मैं क्या जानूं जाति? जाति हैं ये मेरे भुजदण्ड।

"ऊपर सिर पर कनक - छत्र, भीतर काले - के - काले,
शरमाते हैं नहीं जगत् में जाति पूछनेवाले।
सूतपुत्र हूँ मैं, लेकिन, थे पिता पार्थ के कौन?
साहस हो तो कहो, ग्लानि से रह जाओ मत मौन।

"मस्तक ऊंचा किये, जाति का नाम लिये चलते हो,
पर, अधर्ममय शोषण के बल से सुख में पलते हो।
अधम जातियों से थर - थर काँपते तुम्हारे प्राण,
छल से माँग लिया करते हो अंगूठे का दान।

"पूछो मेरी जाति, शक्ति हो तो, मेरे भुजबल से,
रवि-समान दीपित ललाट से, और कवच-कुण्डल से।
पढ़ो उसे जो झलक रहा है मुझमें तेज-प्रकाश,
मेरे रोम-रोम में अङ्कित है मेरा इतिहास।

"अर्जुन बड़ा वीर क्षत्रिय है तो आगे वह आवे,
क्षत्रियत्व का तेज जरा मुझको भी तो दिखलावे।
अभी छीन इस राजपुत्र के कर से तीर-कमान,
अपनी महाजाति की दूँगा मैं तुमको पहचान।"

कृपाचार्य ने कहा—"वृथा तुम क्रुद्ध हुए जाते हो,
साधारण-सी बात, उसे भी समझ नहीं पाते हो।
राजपुत्र से लड़े बिना होता हो अगर अकाज,
अर्जित करना तुम्हें चाहियें पहले कोई राज।

कर्ण हतप्रभ हुआ तनिक, मन-ही-मन कुछ भरमाया,
सह न सका अन्याय, सुयोधन बढ़ कर आगे आया।
बोला—"बड़ा पाप है करना, इस प्रकार, अपमान,
उस नर का जो दीप रहा हो, सचमुच, सूर्य-समान।

"मूल जानना बड़ा कठिन है नदियों का, वीरों का,
धनुष छोड़कर और, गोत्र क्या होता रणधीरों का?
पाते हैं सम्मान तपोबल से भूतल पर शूर,
'जाति-जाति' का शोर मचाते केवल कायर, क्रूर।

"किसने देखा नहीं, कर्ण जब निकल भीड़ से आया,
अनायास आतङ्क एक सम्पूर्ण सभा पर छाया?
कर्ण भले ही सूतपुत्र हो अथवा श्वपच, चमार,
मलिन, मगर, इसके आगे हैं सारे राजकुमार।

"करना क्या अपमान ठीक है इस अनमोल रतन का,
मानवता की इस विभूति का, धरती के इस धन का ?
बिना राज्य यदि नहीं वीरता का इसको अधिकार,
तो मेरी यह खुली घोषणा सुने सकल संसार।

"अङ्गदेश का मुकुट कर्ण के मस्तक पर धरता हूँ,
एक राज्य इस महावीर के हित अर्पित करता हूँ।"
रखा कर्ण के सिर पर उसने अपना मुकुट उतार,
गूंजा रङ्गभूमि में दुर्योधन का जय-जय-कार।

कर्ण चकित रह गया सुयोधन की इस परम कृपा से,
फूट पड़ा मारे कृतज्ञता के भर उसे भुजा से।
दुर्योधन ने हृदय लगाकर कहा—"बन्धु ! हो शान्त,
मेरे इस क्षुद्रोपहार से क्यों होता उद्भ्रान्त ?

"किया कौन-सा त्याग अनोखा, दिया राज यदि तुझको ?
अरे, धन्य हो जायँ प्राण, तू ग्रहण करे यदि मुझको।"
कर्ण और गल गया, "हाय, मुझपर भी इतना स्नेह !
वीर बन्धु ! हम हुए आज से एक प्राण, दो देह।

"भरी सभा के बीच आज तूने जो मान दिया है,
पहले-पहल मुझे जीवन में जो उत्थान दिया है।
उऋण भला होऊँगा उससे चुका कौन-सा दाम ?
कृपा करें दिनमान कि आऊँ तेरे कोई काम।"

"घेर खड़े हो गये कर्ण को मुदित, मुग्ध पुरवासी,
होते ही हैं लोग शूरता-पूजन के अभिलाषी।
चाहे जो भी कहे द्वेष, ईर्ष्या, मिथ्या, अभिमान,
जनता निज आराध्य वीर को, पर लेती पहचान।

लगे लोग पूजने कर्ण को कुंकुम और कमल से,
रङ्ग - भूमि भर गयी चतुर्दिक् पुलकाकुल कलकल से।
विनयपूर्ण प्रतिवन्दन में ज्यों झुका कर्ण सविशेष,
जनता विकल पुकार उठी, 'जय महाराज अंगेश!"

'महाराज अंगेश!' तीर - सा लगा हृदय में जा के,
विफल क्रोध में कहा भीम ने और नहीं कुछ पा के—
"हय की झाड़े पूंछ, आज तक रहा यही तो काज,
सूतपुत्र किस तरह चला पायेगा कोई राज?"

दुर्योधन ने कहा—"भीम! झूठे बकबक करते हो,
कहलाते धर्मज्ञ, द्वेष का विष मन में धरते हो।
बड़े वंश से क्या होता है, खोटे हों यदि काम?
नर का गुण उज्ज्वल चरित्र है, नहीं वंश - धन - धाम।

सचमुच ही तो कहा कर्ण ने, तुम्हीं कौन हो, बोलो?
जनमे थे किस तरह? ज्ञात हो, तो रहस्य यह खोलो।
अपना अवगुण नहीं देखता, अजब जगत् का हाल,
निज आँखों से नहीं सूझता, सच है, अपना भाल।"

कृपाचार्य आ पड़े बीच में, बोले—"छिः! यह क्या है?
तुम लोगों में बची नाम को भी क्या नहीं हया है?
चलो, चलें घर को, देखो; होने को आयी शाम,
थके हुए होगे तुम सब, चाहिये तुम्हें आराम।"

रङ्ग - भूमि से चले सभी पुरवासी मोद मनाते,
कोई कर्ण, पार्थ का कोई—गुण आपस में गाते।
सबसे अलग चले अर्जुन को लिये हुए गुरु द्रोण,
कहते हुए—"पार्थ! पहुँचा यह राहु नया फिर कौन?

"जनमे नहीं जगत् में अर्जुन! कोई प्रतिबल तेरा,
टँगा रहा है एक इसी पर ध्यान आज तक मेरा।
एकलव्य से लिया अँगूठा, कढ़ी न मुख से आह,
रखा चाहता हूँ निष्कण्टक बेटा! तेरी राह।

"मगर, आज जो कुछ देखा, उससे धीरज हिलता है,
मुझे कर्ण में चरम वीरता का लक्षण मिलता है।
बढ़ता गया अगर निष्कण्टक यह उद्भट भट बाल,
अर्जुन! तेरे लिए कभी वह हो सकता है काल!

"सोच रहा हूँ क्या उपाय, मैं इसके साथ करूँगा,
इस प्रचण्डतम धूमकेतु का कैसे तेज हरूँगा?
शिष्य बनाऊँगा न कर्ण को, यह निश्चित है बात;
रखना ध्यान विकट प्रतिभट का, पर तू भी हे तात!"

रङ्गभूमि से लिये कर्ण को, कौरव शङ्ख बजाते,
चले झूमते हुए खुशी में गाते, मौज मनाते।
कञ्चन के युग शैल-शिखर-सम सुगठित, सुघड़, सुवर्ण,
गलबाँही दे चले परस्पर दुर्योधन औ' कर्ण।

बड़ी तृप्ति के साथ सूर्य शीतल अस्ताचल पर से,
चूम रहे थे अङ्ग पुत्र का स्निग्ध-सुकोमल कर से।
आज न था प्रिय उन्हें दिवस का समय-सिद्ध अवसान,
विरम गया क्षण एक क्षितिज पर गति को छोड़ विमान।

और हाय, रनिवास चला वापस जब राजभवन को,
सबके पीछे चली एक विकला मसोसती मन को।
उजड़ गये हों स्वप्न कि जैसे हार गयी हो दाँव,
नहीं उठाये भी उठ पाते थे कुन्ती के पाँव।

□

द्वितीय सर्ग

शीतल, विरल एक कानन शोभित अधित्यका के ऊपर,
कहीं उत्स - प्रस्रवण चमकते, झरते कहीं शुभ्र निर्झर।
जहाँ भूमि समतल, सुन्दर है, नहीं दीखते हैं पाहन,
हरियाली के बीच खड़ा है, विस्तृत एक उटज पावन।

आस - पास कुछ कटे हुए पीले धनखेत सुहाते हैं,
शशक, मूस, गिलहरी, कबूतर घूम - घूम कण खाते हैं,
कुछ तन्द्रिल, अलसित बैठे हैं; कुछ करते शिशु का लेहन,
कुछ खाते शाकल्य, दीखते बड़े तुष्ट सारे गोधन।

हवन - अग्नि बुझ चुकी, गन्ध से वायु, अभी, पर, माती है,
भीनी - भीनी महक प्राण में मादकता पहुँचाती है।
धूप - धूम - चर्चित लगते हैं तरु के श्याम छदन कैसे ?
झपक रहे हों शिशु के अलसित कजरारे लोचन जैसे।

बैठे हुए सुखद आतप में मृग रोमन्थन करते हैं,
वन के जीव विवर से बाहर हो विश्रब्ध विचरते हैं।
सूख रहे चीवर, रसाल की नन्हीं झुकी टहनियों पर,
नीचे बिखरे हुए पड़े हैं इंगुद से चिकने पत्थर।

अजिन, दर्भ, पालाश, कमण्डलु—एक ओर तप के साधन,
एक ओर हैं टँगे धनुष, तूणीर, तीर, बरछे भीषण।
चमक रहा तृण - कुटी - द्वार पर एक परशु आभाशाली,
लौह - दण्ड पर जड़ित पड़ा हो, मानो, अर्ध अंशुमाली।

श्रद्धा बढ़ती अजिन - दर्भ पर, परशु देख मन डरता है,
युद्ध - शिविर या तपोभूमि यह, समझ नहीं कुछ पड़ता है।
हवन - कुण्ड जिसका यह, उसके ही क्या हैं ये धनुष - कुठार ?
जिस मुनि की यह स्रुवा, उसी की कैसे हो सकती तलवार ?

आयी है वीरता तपोवन में क्या पुण्य कमाने को ?
या संन्यास साधना में है दैहिक शक्ति जगाने को ?
मन ने तन का सिद्ध - यन्त्र अथवा शस्त्रों में पाया है ?
या कि वीर कोई योगी से युक्ति सीखने आया है ?

परशु और तप, ये दोनों वीरों के ही होते शृङ्गार,
क्लीव न तो तप ही करता है, न तो उठा सकता तलवार।
तप से मनुज दिव्य बनता है, षड् विकार से लड़ता है,
तन की समर - भूमि में लेकिन, काम खड्ग ही करता है।

किन्तु, कौन नर तपोनिष्ठ है यहाँ धनुष धरनेवाला ?
एक साथ यज्ञाग्नि और असि की पूजा करनेवाला ?
कहता है इतिहास, जगत् में हुआ एक ही नर ऐसा,
रण में कुटिल काल - सम क्रोधी, तप में महासूर्य - जैसा !

मुख में वेद, पीठ पर तरकस, कर में कठिन कुठार विमल,
शाप और शर, दोनों ही थे, जिस महान् ऋषि के सम्बल।
यह कुटीर है उसी महामुनि परशुराम बलशाली का,
भृगु के परम पुनीत वंशधर, व्रती, वीर, प्रणपाली का।

हाँ - हाँ, वही कर्ण की जाँघों पर अपना मस्तक धरकर,
सोये हैं तरुवर के नीचे, आश्रम से किञ्चित् हटकर।
पत्तों से छन - छन कर मीठी धूप माघ की आती है,
पड़ती मुनि की थकी देह पर और थकान मिटाती है।

कर्ण मुग्ध हो भक्ति - भाव में मग्न हुआ - सा जाता है,
कभी जटा पर हाथ फेरता, पीठ कभी सहलाता है।
चढ़ें नहीं चींटियाँ बदन पर, पड़े नहीं तृण - पात कहीं,
कर्ण सजग है, उचट जाय गुरुवर की कच्ची नींद नहीं।

"वृद्ध देह, तप से कृश काया, उसपर आयुध - सञ्चालन,
हाय, पड़ा श्रम - भार देव पर असमय यह मेरे कारण।
किन्तु, वृद्ध होने पर भी अङ्गों में है क्षमता कितनी,
और रात - दिन मुझपर दिखलाते रहते ममता कितनी।

"कहते हैं, 'ओ वत्स ! पुष्टिकर भोग न तू यदि खायेगा,
मेरे शिक्षण की कठोरता को कैसे सह पायेगा ?
अनुगामी यदि बना कहीं तू खान - पान में भी मेरा,
सूख जायगा लहू, बचेगा हड्डी - भर ढाँचा तेरा।

" 'जरा सोच, कितनी कठोरता से मैं तुझे चलाता हूँ,
और नहीं तो एक पाव दिन भर में रक्त जलाता हूँ।
इसकी पूर्त्ति कहाँ से होगी, बना अगर तू संन्यासी,
इस प्रकार तो चबा जायगी तुझे भूख सत्यानाशी।

" 'पत्थर - सी हों मांस - पेशियाँ, लोहे - से भुजदण्ड अभय,
नस - नस में हो लहर आग की, तभी जवानी पाती जय।
विप्र हुआ तो क्या, रक्खेगा रोक अभी से खाने पर ?
कर लेना घनघोर तपस्या वय चतुर्थ के आने पर।

" 'ब्राह्मण का है धर्म त्याग, पर, क्या बालक भी त्यागी हों ?
जन्म साथ, शिलोञ्छवृत्ति के ही क्या वे अनुरागी हों ?
क्या विचित्र रचना समाज की ? गिरा ज्ञान ब्राह्मण - घर में,
मोती बरसा वैश्य - वेश्म में, पड़ा खड्ग क्षत्रिय - कर में।

" 'खड्ग बड़ा उद्धत होता है उद्धत होते हैं, राजे,
इसीलिए तो सदा बजाते रहते वे रण के बाजे।
और करे ज्ञानी ब्राह्मण क्या? असि - विहीन मन डरता है,
राजा देता मान, भूप का वह भी आदर करता है।

" 'सुनता कौन यहाँ ब्राह्मण की? करते सब अपने मन की,
डुबो रही शोणित में भू को भूपों की लिप्सा रण की।
औ' रण भी किसलिए? नहीं जग से दुख - दैन्य भगाने को,
परशोषक, पथ - भ्रान्त मनुज को नहीं धर्म पर लाने को।

" 'रण केवल इसलिए कि राजे और सुखी हों, मानी हों,
और प्रजाएँ मिलें उन्हें, वे और अधिक अभिमानी हों।
रण केवल इसलिए कि वे कल्पित अभाव से छूट सकें,
बढ़े राज्य की सीमा, जिससे अधिक जनों को लूट सकें।

" 'रण केवल इसलिए कि सत्ता बढ़े, नहीं पत्ता डोले,
भूपों के विपरीत न कोई, कहीं, कभी, कुछ भी बोले।
ज्यों - ज्यों मिलती विजय, अहं नरपति का बढ़ता जाता है,
और जोर से वह समाज के सिर पर चढ़ता जाता है।

" 'अब तो है यह दशा कि जो कुछ है, वह राजा का बल है,
ब्राह्मण खड़ा सामने केवल लिये शङ्ख - गङ्गाजल है।
कहाँ तेज ब्राह्मण में! अविवेकी राजा को रोक सके,
धरे कुपथ पर जभी पाँव वह, तत्क्षण उसको टोक सके।

" 'और कहे भी तो ब्राह्मण की बात कौन सुन पाता है?
यहाँ रोज राजा ब्राह्मण को अपमानित करवाता है।
चलती नहीं यहाँ पण्डित की, चलती नहीं तपस्वी की,
जय पुकारती प्रजा रात - दिन राजा जयी - यशस्वी की।

" 'सिर था जो सारे समाज का, वही अनादर पाता है,
जो भी खिलता फूल, भुजा के ऊपर चढ़ता जाता है।
चारों ओर लोभ की ज्वाला, चारों ओर भोग की जय,
पाप - भार से दबी - धँसी जा रही धरा पल - पल निश्चय।

" 'जबतक भोगी भूप प्रजाओं के नेता कहलायेंगे,
ज्ञान, त्याग, तप नहीं श्रेष्ठता का जबतक पद पायेंगे।
अशन - वसन से हीन, दीनता में जीवन धरनेवाले,
सहकर भी अपमान मनुजता की चिन्ता करनेवाले,

" 'कवि, कोविद, विज्ञान - विशारद, कलाकार, पण्डित, ज्ञानी,
कनक नहीं ; कल्पना, ज्ञान, उज्ज्वल चरित्र के अभिमानी,
इन विभूतियों को जब तक संसार नहीं पहचानेगा,
राजाओं से अधिक पूज्य जब तक न इन्हें वह मानेगा,

" 'तबतक पड़ी आग में धरती, इसी तरह अकुलायेगी,
चाहे जो भी करे दुखों से छूट नहीं वह पायेगी।
थकी जीभ समझाकर, गहरी लगी ठेस अभिलाषा को,
भूप समझता नहीं और कुछ छोड़ खड्ग की भाषा को।

" 'रोक - टोक से नहीं सुनेगा, नृप - समाज अविचारी है,
ग्रीवाहर, निष्ठुर कुठार का यह मदान्ध अधिकारी है।
इसीलिए तो मैं कहता हूँ, अरे ज्ञानियो ! खड्ग धरो,
हर न सका जिसको कोई भी, भू का वह तुम त्रास हरो।'

"नित्य कहा करते हैं गुरुवर, 'खड्ग महाभयकारी है,
इसे उठाने का जग में हर एक नहीं अधिकारी है।
वही उठा सकता है इसको, जो कठोर हो, कोमल भी,
जिसमें हो धीरता, वीरता और तपस्या का बल भी।

" 'वीर वही है जो कि शत्रु पर जब भी खड्ग उठाता है,
मानवता के महागुणों की सत्ता भूल न जाता है।
सीमित जो रख सके खड्ग को, पास उसी को आने दो,
विप्र जाति के सिवा किसी को मत तलवार उठाने दो।'

"जब-जब मैं शर-चाप उठा कर करतब कुछ दिखलाता हूँ,
सुन कर आशीर्वाद देव का, धन्य-धन्य हो जाता हूँ।
'जियो, जियो अय वत्स! तीर तुमने कैसा यह मारा है,
दहक उठा वन उधर, इधर फूटी निर्झर की धारा है।

" 'मैं शङ्कित था, ब्राह्म वीरता मेरे साथ मरेगी क्या,
परशुराम की याद विप्र की जाति न जुगा धरेगी क्या?
पाकर तुम्हें किन्तु, इस वन में, मेरा हृदय हुआ शीतल,
तुम अवश्य ढोओगे उसको मुझमें है जो तेज, अनल।

" 'जियो, जियो, ब्राह्मणकुमार! तुम अक्षय कीर्त्ति कमाओगे,
एक बार तुम भी धरती को निःक्षत्रिय कर जाओगे।
निश्चय, तुम ब्राह्मणकुमार हो, कवच और कुण्डल-धारी,
तप कर सकते और पिता-माता किसके इतने भारी?'

"किन्तु, हाय! 'ब्राह्मणकुमार' सुन प्राण काँपने लगते हैं,
मन उठता धिक्कार, हृदय में भाव ग्लानि के जगते हैं।
गुरु का प्रेम किसी को भी क्या ऐसे कभी खला होगा?
और शिष्य ने कभी किसी गुरु को इस तरह छला होगा?

"पर, मेरा क्या दोष? हाय! मैं और दूसरा क्या करता?
पी सारा अपमान, द्रोण के मैं कैसे पैरों पड़ता?
और पाँव पड़ने से भी क्या गूढ़ ज्ञान सिखलाते वे?
एकलव्य-सा नहीं अँगूठा क्या मेरा कटवाते वे?

"हाय, कर्ण, तू क्यों जन्मा था ? जन्मा तो क्यों वीर हुआ ?
कवच और कुण्डल - भूषित भी तेरा अधम शरीर हुआ।
धँस जाये वह देश अतल में, गुण की जहाँ नहीं पहचान,
जाति - गोत्र के बल से ही आदर पाते हैं जहाँ सुजान।

"नहीं पूछता है कोई, तुम व्रती, वीर या दानी हो ?
सभी पूछते मात्र यही, तुम किस कुल के अभिमानी हो ?
मगर, मनुज क्या करे ? जन्म लेना तो उसके हाथ नहीं,
चुनना जाति और कुल अपने बस की तो है बात नहीं।

"मैं कहता हूँ, अगर विधाता नर को मुट्ठी में भरकर,
कहीं छींट दें ब्रह्मलोक से ही नीचे भूमण्डल पर।
तो भी विविध जातियों में ही मनुज यहाँ आ सकता है,
नीचे हैं क्यारियाँ बनीं, तो बीज कहाँ जा सकता है ?

"कौन जन्म लेता किस कुल में ? आकस्मिक ही है यह बात,
छोटे कुल पर, किन्तु, यहाँ होते तब भी कितने आघात !
हाय, जाति छोटी है, तो फिर सभी हमारे गुण छोटे,
जाति बड़ी, तो बड़े बनें वे, रहें लाख चाहे खोटे।"

गुरु को लिये कर्ण-चिन्तन में था जब मग्न, अचल बैठा,
तभी एक विषकीट कहीं से आसन के नीचे पैठा।
वज्रदंष्ट्र वह लगा कर्ण के उरु को कुतर - कुतर खाने,
और बनाकर छिद्र मांस में मन्द - मन्द भीतर जाने।

कर्ण विकल हो उठा, 'दुष्ट भौंरे पर हाथ धरे कैसे,
बिना हिलायें अङ्ग, कीट को किसी तरह पकड़े कैसे ?
पर, भीतर उस धँसे कीट तक हाथ नहीं जा सकता था,
बिना उठाये पाँव शत्रु को कर्ण नहीं पा सकता था।

किन्तु, पाँव के हिलते ही गुरुवर की नींद उचट जाती,
सहम गयी यह सोच कर्ण की भक्ति - पूर्ण विह्वल छाती।
सोचा उसने, अतः, कीट यह पिये रक्त, पीने दूँगा,
गुरु की कच्ची नींद तोड़ने का, पर, पाप नहीं लूँगा।

बैठा रहा अचल आसन से कर्ण बहुत मन को मारे,
आह निकाले बिना, शिला - सी सहनशीलता को धारे।
किन्तु, लहू की गर्म धार जो सहसा आन लगी तन में,
परशुराम जग पड़े, रक्त को देख हुए विस्मित मन में।

कर्ण झपटकर उठा इङ्गितों में गुरु से आज्ञा लेकर,
बाहर किया कीट को उसने क्षत में से उँगली देकर।
परशुराम बोले—"शिव ! शिव ! तूने यह की मूर्खता बड़ी,
सहता रहा अचल, जानें कब से, ऐसी वेदना कड़ी।

तनिक लजाकर कहा कर्ण ने, 'नहीं अधिक पीड़ा मुझको,
महाराज, क्या कर सकता है यह छोटा कीड़ा मुझको ?
मैंने सोचा, हिला - डुला तो वृथा आप जग जायेंगे,
क्षण भर को विश्राम मिला जो नाहक उसे गँवायेंगे।

"निश्चल बैठा रहा, सोच, यह कीट स्वयं उड़ जायेगा,
छोटा - सा यह जीव मुझे कितनी पीड़ा पहुँचायेगा ?
पर, यह तो भीतर धँसता ही गया, मुझे हैरान किया,
लज्जित हूँ इसलिए कि सब - कुछ स्वयं आपने देख लिया।"

परशुराम गम्भीर हो गये सोच न जानें क्या मन में,
फिर सहसा क्रोधाग्नि भयानक भभक उठी उनके तन में।
दाँत पीस, आँखें तरेरकर बोले—"कौन छली है तू ?
ब्राह्मण है या और किसी अभिजन का पुत्र बली है तू ?

"सहनशीलता को अपनाकर ब्राह्मण कभी न जीता है,
किसी लक्ष्य के लिए नहीं अपमान - हलाहल पीता है।
सह सकता जो कठिन वेदना, पी सकता अपमान वहीं,
बुद्धि चलाती जिसे, तेज का कर सकता बलिदान वही।

"तेज - पुंज ब्राह्मण तिल - तिल कर जले, नहीं यह हो सकता,
किसी दशा में भी स्वभाव अपना वह कैसे खो सकता?
कसक भोगता हुआ विप्र निश्चल कैसे रह सकता है?
इस प्रकार की चुभन, वेदना क्षत्रिय ही सह सकता है।

"तू अवश्य क्षत्रिय है, पापी! बता, न तो, फल पायेगा,
परशुराम के कठिन शाप से अभी भस्म हो जायेगा।"
"क्षमा, क्षमा, हे देव दयामय!" गिरा कर्ण गुरु के पद पर,
मुख विवर्ण हो गया, अङ्ग काँपने लगे भय से थर - थर।

"सूत - पुत्र मैं शूद्र कर्ण हूँ, करुणा का अभिलाषी हूँ,
जो भी हूँ, पर, देव, आपका अनुचर अन्तेवासी हूँ।
छली नहीं मैं हाय, किन्तु, छल का हो तो यह काम हुआ,
आया था विद्या - सञ्चय को, किन्तु, व्यर्थ बदनाम हुआ।

"बड़ा लोभ था, बनूँ शिष्य मैं कार्त्तवीर्य के जेता का,
तपोदीप्त शूरमा, विश्व के नूतन धर्म - प्रणेता का।
पर, शङ्का थी मुझे, सत्य का अगर पता पा जायेंगे,
महाराज मुझ सूत - पुत्र को कुछ भी नहीं सिखायेंगे।

"बता सका मैं नहीं इसीसे प्रभो! जाति अपनी छोटी,
करें देव विश्वास, भावना और न थी कोई खोटी।
पर इतने से भी लज्जा में हाय, गड़ा - सा जाता हूँ,
मारे बिना हृदय में अपने - आप मरा - सा जाता हूँ।

"छल से पाना मान जगत् में किल्विष है, मल ही तो है,
ऊँचा बना आपके आगे, सचमुच, यह छल ही तो है।
पाता था सम्मान आज तक दानी, व्रती, बली होकर,
अब जाऊंगा कहाँ स्वयं गुरु के सामने छली होकर?

"करें भस्म ही मुझे देव! सम्मुख है मस्तक नत मेरा,
एक कसक रह गयी, नहीं पूरा जीवन का व्रत मेरा।
गुरु की कृपा! शाप से जलकर अभी भस्म हो जाऊंगा,
पर, मदान्ध अर्जुन का मस्तक देव! कहाँ मैं पाऊंगा?

"यह तृष्णा, यह विजय-कामना, मुझे छोड़ क्या पायेगी?
प्रभु, अतृप्त वासना मरे पर भी मुझको भरमायेगी।
दुर्योधन की हार देवता! कैसे सहन करूंगा मैं?
अभय देख अर्जुन को मरकर भी तो रोज मरूंगा मैं।

"परशुराम का शिष्य कर्ण, पर, जीवन-दान न माँगेगा,
बड़ी शान्ति के साथ चरण को पकड़ प्राण निज त्यागेगा।
प्रस्तुत हूँ, दें शाप, किन्तु, अन्तिम सुख तो यह पाने दें,
इन्हीं पाद-पद्मों के ऊपर मुझको प्राण गंवाने दें।"

लिपट गया गुरु के चरणों से विकल कर्ण इतना कहकर,
दो कणिकाएँ गिरीं अश्रु की गुरु की आँखों से बहकर।
बोले—"हाय, कर्ण, तू ही प्रतिभट अर्जुन का नामी है?
निश्छल सखा धार्त्तराष्ट्रों का, विश्व-विजय का कामी है?

"अब समझा, किसलिए रात-दिन तू वैसा श्रम करता था,
मेरे शब्द-शब्द को मन में क्यों सीपी-सा धरता था।
देखे अगणित शिष्य, द्रोण को भी करतब कुछ सिखलाया,
पर, तुझ-सा जिज्ञासु आजतक कभी नहीं मैंने पाया।

"तूने जीत लिया था मुझको निज पवित्रता के बल से,
क्या था पता, लूटने आया है कोई मुझको छल से !
किसी और पर नहीं किया, वैसा सनेह मैं करता था,
सोने पर भी धनुर्वेद का ज्ञान कान में भरता था।

"नहीं किया कार्पण्य, दिया जो कुछ था मेरे पास रतन,
तुझमें निज को सौंप शान्त हो, अभी - अभी प्रमुदित था मन।
पापी, बोल अभी भी मुख से, तू न सूत, रथचालक है,
परशुराम का शिष्य विक्रमी, विप्रवंश का बालक है।

"सूत - वंश में मिला सूर्य - सा कैसे तेज प्रबल तुझको ?
किसने लाकर दिये, कहाँ से, कवच और कुण्डल तुझको ?
सुत - सा रखा जिसे, उसको कैसे कठोर हो मारूँ मैं ?
जलते हुए क्रोध की ज्वाला, लेकिन, कहाँ उतारूँ मैं ?"

पद पर बोला कर्ण, "दिया था जिसको आँखों का पानी,
करना होगा ग्रहण उसी को अनल आज हे गुरु ज्ञानी।
बरसाइये अनल आँखों से, सिर पर उसे सँभालूँगा,
दण्ड भोग, जलकर मुनिसत्तम ! छल का पाप छुड़ा लूँगा।"

परशुराम ने कहा—"कर्ण ! तू बेध नहीं मुझको ऐसे,
तुझे पता क्या, सता रहा है मुझको असमंजस कैसे ?
पर, तूने छल किया, दण्ड उसका, अवश्य ही पायेगा,
परशुराम का क्रोध भयानल निष्फल कभी न जायेगा।

"मान लिया था पुत्र, इसीसे प्राण - दान तो देता हूँ,
पर, अपनी विद्या का अन्तिम, चरम तेज, हर लेता हूँ;
सिखलाया ब्रह्मास्त्र तुझे जो, काम नहीं वह आयेगा,
है यह मेरा शाप, समय पर उसे भूल तू जायेगा।"

कर्ण विकल हो खड़ा हुआ कह ! "हाय, किया यह क्या गुरुवर ?
दिया शाप अत्यन्त निदारुण, लिया नहीं जीवन क्यों हर ?
वर्षों की साधना, साथ ही प्राण नहीं क्यों लेते हैं ?
अब किस सुख के लिए मुझे धरती पर जीने देते हैं ?"

परशुराम ने कहा—"कर्ण ! यह शाप अटल है, सहन करो,
जो कुछ मैंने कहा, उसे सिर पर ले सादर वहन करो।
इस महेन्द्र - गिरि पर तुमने कुछ थोड़ा नहीं कमाया है,
मेरा सञ्चित निखिल ज्ञान तूने मुझसे ही पाया है।

"रहा नहीं ब्रह्मास्त्र एक, इससे क्या आता - जाता है ?
एक शस्त्र - बल से न वीर, कोई सब दिन कहलाता है।
नयी कला, नूतन रचनाएँ, नयी सूझ, नूतन साधन,
नये भाव, नूतन उमङ्ग से, वीर बने रहते नूतन।

"तुम तो स्वयं दीप्त पौरुष हो कवच और कुण्डल - धारी,
इनके रहते तुम्हें जीत पायेगा कौन सुभट भारी।
अच्छा, लो वर भी कि विश्व में तुम महान् कहलाओगे,
भारत का इतिहास कीर्त्ति से और धवल कर जाओगे।

"अब जाओ, लो विदा वत्स कुछ कड़ा करो अपने मन को,
रहने देते नहीं यहाँ पर हम अभिशप्त किसी जन को।
हाय, छीनना पड़ा मुझी को, दिया हुआ अपना ही धन,
सोच - सोच यह बहुत विकल हो रहा, नहीं जानें, क्यों मन ?

"व्रत का, पर, निर्वाह कभी ऐसे भी करना होता है;
इस कर से जो दिया, उसे उस कर से हरना होता है।
अब जाओ तुम कर्ण ! कृपा करके मुझको निःसङ्ग करो,
देखो मत यों सजल दृष्टि से, व्रत मेरा मत भङ्ग करो।

"आह बुद्धि कहती कि ठीक था, जो कुछ किया, परन्तु, हृदय
मुझसे कर विद्रोह तुम्हारी मना रहा, जानें क्यों, जय ?
अनायास गुण-शील तुम्हारे, मन में उगते आते हैं,
भीतर किसी अश्रु-गङ्गा में मुझे बोर नहलाते हैं।

"जाओ, जाओ कर्ण ! मुझे बिलकुल असङ्ग हो जाने दो,
बैठ किसी एकान्त कुञ्ज में मन को स्वस्थ बनाने दो।
भय है, तुम्हें निराश देखकर छाती कहीं न फट जाये,
फिरा न लूँ अभिशाप, पिघलकर वाणी नहीं उलट जाये।"

इस प्रकार कह परशुराम ने फिरा लिया आनन अपना,
जहाँ मिला था, वहीं कर्ण का बिखर गया प्यारा सपना।
छूकर उनका चरण कर्ण ने अर्घ्य अश्रु का दान किया,
और उन्हें जी भर निहारकर मन्द-मन्द प्रस्थान किया।

परशुधर के चरण की धूलि लेकर,
उन्हें अपने हृदय की भक्ति देकर,
किसी गिरि-शृङ्ग से छूटा हुआ-सा,
निराशा से विकल, टूटा हुआ-सा,
चला खोया हुआ-सा कर्ण मन में,
कि जैसे चाँद चलता हो गहन में।

□

तृतीय सर्ग

१

हो गया पूर्ण अज्ञात वास, पाण्डव लौटे वन से सहास,
पावक में कनक-सदृश तप कर, वीरत्व लिये कुछ और प्रखर,
नस-नस में तेज-प्रवाह लिये,
कुछ और नया उत्साह लिये।

सच है, विपत्ति जब आती है, कायर को ही दहलाती है,
शूरमा नहीं विचलित होते, क्षण एक नहीं धीरज खोते,
विघ्नों को गले लगाते हैं,
काँटों में राह बनाते हैं।

मुख से न कभी उफ कहते हैं, सङ्कट का चरण न गहते हैं,
जो आ पड़ता सब सहते हैं, उद्योग-निरत नित रहते हैं,
शूलों का मूल नसाने को,
बढ़ खुद विपत्ति पर छाने को।

है कौन विघ्न ऐसा जग में टिक सके वीर नर के मग में ?
खम ठोंक ठेलता है जब नर, पर्वत के जाते पाँव उखड़।
मानव जब जोर लगाता है,
पत्थर पानी बन जाता है।

गुण बड़े एक से एक प्रखर, हैं छिपे मानवों के भीतर,
मेंहदी में जैसे लाली हो, वर्त्तिका-बीच उजियाली हो।
बत्ती जो नहीं जलाता है;
रोशनी नहीं वह पाता है।

पीसा जाता जब इक्षु - दण्ड, झरती रस की धारा अखण्ड,
मेंहदी जब सहती है प्रहार, बनती ललनाओं का सिंगार।
जब फूल पिरोये जाते हैं,
हम उनको गले लगाते हैं।

वसुधा का नेता कौन हुआ ? भूखण्ड - विजेता कौन हुआ ?
अतुलित यश-क्रेता कौन हुआ ? नव-धर्म - प्रणेता कौन हुआ ?
जिसने न कभी आराम किया,
विघ्नों में रहकर नाम किया।

जब विघ्न सामने आते हैं, सोते से हमें जगाते हैं,
मन को मरोड़ते हैं पल - पल, तन को झंझोरते हैं पल - पल।
सत्पथ की ओर लगाकर ही,
जाते हैं हमें जगाकर ही।

वाटिका और वन एक नहीं, आराम और रण एक नहीं,
वर्षा, अन्धड़, आतप अखण्ड, पौरुष के हैं साधन प्रचण्ड।
वन में प्रसून तो खिलते हैं,
बागों में शाल न मिलते हैं।

कङ्करियाँ जिनकी सेज सुघर, छाया देता केवल अम्बर,
विपदाएँ दूध पिलाती हैं, लोरी आँधियाँ सुनाती हैं।
जो लाक्षा - गृह में जलते हैं,
वे ही शूरमा निकलते हैं।

बढ़कर विपत्तियों पर छा जा, मेरे किशोर ! मेरे ताजा !
जीवन का रस छन जाने दे, तन को पत्थर बन जाने दे।
तू स्वयं तेज भयकारी है,
क्या कर सकती चिनगारी है ?

२

वर्षों तक वन में घूम - घूम, बाधा - विघ्नों को चूम - चूम,
सह धूप - घाम, पानी - पत्थर, पाण्डव आये कुछ और निखर।
सौभाग्य न सब दिन सोता है,
देखें, आगे क्या होता है?

मैत्री की राह बताने को, सबको सुमार्ग पर लाने को,
दुर्योधन को समझाने को, भीषण विध्वंस बचाने को,
भगवान् हस्तिनापुर आये,
पाण्डव का सन्देशा लाये।

"दो न्याय अगर, तो आधा दो, पर इसमें भी यदि बाधा हो,
तो दे दो केवल पाँच ग्राम, रक्खो अपनी धरती तमाम।
हम वहीं खुशी से खायेंगे,
परिजन पर असि न उठायेंगे!"

दुर्योधन वह भी दे न सका, आशिष समाज की ले न सका,
उलटे, हरि को बाँधने चला, जो था असाध्य, साधने चला।
जब नाश मनुज पर छाता है,
पहले विवेक मर जाता है।

हरि ने भीषण हुङ्कार किया, अपना स्वरूप - विस्तार किया,
डगमग - डगमग दिग्गज डोले, भगवान् कुपित होकर बोले—
"जंजीर बढ़ा कर साध, मुझे,
हाँ - हाँ, दुर्योधन! बाँध मुझे।

"यह देख, गगन मुझमें लय है, यह देख, पवन मुझमें लय है;
मुझमें विलीन झङ्कार सकल, मुझमें लय है संसार सकल।
अमरत्व फूलता है मुझमें,
संहार झूलता है मुझमें।

"उदयाचल मेरा दीप्त भाल, भूमण्डल वक्षस्थल विशाल,
भुज परिधि - बन्ध को घेरे हैं, मैनाक - मेरु पग मेरे हैं।
दिपते जो ग्रह - नक्षत्र - निकर,
सब हैं मेरे मुख के अन्दर।

"दृग हों तो दृश्य अकाण्ड देख, मुझमें सारा ब्रह्माण्ड देख,
चर-अचर जीव, जग क्षर-अक्षर, नश्वर मनुष्य, सुरजाति अमर।
शत कोटि सूर्य शत कोटि चन्द्र,
शत कोटि सरित, सर, सिन्धु. मन्द्र,

"शत कोटि विष्णु, ब्रह्मा, महेश, शत कोटि जिष्णु, जलपति धनेश,
शत कोटि रुद्र, शत कोटि काल, शत कोटि दण्डधर लोकपाल।
जंजीर बढ़ाकर साध इन्हें,
हाँ - हाँ, दुर्योधन ! बाँध इन्हें।

"भूलोक, अतल पाताल देख, गत और अनागत काल देख,
यह देख, जगत् का आदि-सृजन, यह देख, महाभारत का रण ;
मृतकों से पटी हुई भू है,
पहचान, कहाँ इसमें तू है।

"अम्बर में कुन्तल - जाल देख, पद के नीचे पाताल देख,
मुट्ठी में तीनों काल देख, मेरा स्वरूप विकराल देख।
सब जन्म मुझी से पाते हैं,
फिर लौट मुझी में आते हैं।

"जिह्वा से कढ़ती ज्वाल सघन, साँसों में पाता जन्म पवन,
पड़ जाती मेरी दृष्टि जिधर, हँसने लगती है सृष्टि उधर।
मैं जभी मूँदता हूँ लोचन,
छा जाता चारों ओर मरण।

"बाँधने मुझे तो आया है, जंजीर बड़ी क्या लाया है ?
यदि मुझे बाँधना चाहे मन, पहले तो बाँध अनन्त गगन।
सूने को साध न सकता है,
वह मुझे बाँध कब सकता है ?

"हित - वचन नहीं तूने माना, मैत्री का मूल्य न पहचाना,
तो ले, मैं भी अब जाता हूँ, अन्तिम सङ्कल्प सुनाता हूँ।
याचना नहीं, अब रण होगा,
जीवन - जय या कि मरण होगा।

"टकरायेंगे नक्षत्र - निकर, बरसेगी भू पर वह्नि प्रखर,
फण शेषनाग का डोलेगा, विकराल काल मुँह खोलेगा।
दुर्योधन ! रण ऐसा होगा,
फिर कभी नहीं जैसा होगा।

"भाई पर भाई टूटेंगे, विष - बाण बूँद - से छूटेंगे,
वायस - शृगाल सुख लूटेंगे, सौभाग्य मनुज के फूटेंगे।
आखिर तू भूशायी होगा,
हिंसा का पर, दायी होगा।"

थी सभा सन्न, सब लोग डरे, चुप थे या थे बेहोश पड़े।
केवल दो नर न अघाते थे, धृतराष्ट्र - विदुर सुख पाते थे।
कर जोड़ खड़े प्रमुदित, निर्भय,
दोनों पुकारते थे 'जय - जय !'

३

भगवान् सभा को छोड़ चले, करके रण - गर्जन घोर चले,
सामने कर्ण सकुचाया - सा, आ मिला चकित, भरमाया - सा।
हरि बड़े प्रेम से कर धर कर,
ले चढ़े उसे अपने रथ पर।

रथ चला, परस्पर बात चली, शम - दम की टेढ़ी घात चली।
शीतल हो हरि ने कहा, "हाय, अब शेष नहीं कोई उपाय।
हो विवश हमें धनु धरना है,
क्षत्रिय - समूह को मरना है।

"मैंने कितना कुछ कहा नहीं ? विषव्यंग्य कहाँ तक सहा नहीं ?
पर, दुर्योधन मतवाला है, कुछ नहीं समझनेवाला है।
चाहिये उसे बस रण केवल,
सारी धरती कि मरण केवल।

"हे वीर ! तुम्हीं बोलो अकाम, क्या वस्तु बड़ी थी पाँच ग्राम ?
वह भी कौरव को भारी है, मति गयी मूढ़ की मारी है।
दुर्योधन को बोधूँ कैसे ?
इस रण को अवरोधूँ कैसे ?

"सोचो, क्या दृश्य विकट होगा, रण में जब काल प्रकट होगा ?
बाहर शोणित की तप्त धार, भीतर विधवाओं की पुकार।
निरशन, विषण्ण बिललायेंगे,
बच्चे अनाथ चिल्लायेंगे।

"चिन्ता है मैं क्या और करूँ ? शान्ति को छिपा किस ओट धरूँ ?
सब राह बन्द मेरे जाने, हाँ, एक बात यदि तू माने,
तो शान्ति नहीं जल सकती है,
समराग्नि अभी टल सकती है।

"पा तुझे धन्य है दुर्योधन, तू एकमात्र उसका जीवन।
तेरे बल की है आस उसे, तुझसे जय का विश्वास उसे।
तू सङ्ग न उसका छोड़ेगा,
वह क्यों रण से मुख मोड़ेगा ?

"क्या अघटनीय घटना कराल ? तू पृथा - कुक्षि का प्रथम लाल,
बन सूत अनादर सहता है, कौरव के दल में रहता है,
शर - चाप उठाये आठ प्रहर,
पाण्डव से लड़ने को तत्पर।

"माँ का सनेह पाया न कभी, सामने सत्य आया न कभी,
किस्मत के फेरे में पड़कर, पा प्रेम बसा दुश्मन के घर।
निज बन्धु मानता है पर को,
कहता है शत्रु सहोदर को।

"पर, कौन दोष इसमें तेरा ? अब कहा मान इतना मेरा।
चल होकर सङ्ग अभी मेरे, हैं जहाँ पाँच भ्राता तेरे।
बिछुड़े भाई मिल जायेंगे,
हम मिलकर मोद मनायेंगे।

"कुन्ती का तू ही तनय ज्येष्ठ, बल, बुद्धि, शील में परम श्रेष्ठ।
मस्तक पर मुकुट धरेंगे हम, तेरा अभिषेक करेंगे हम।
आरती समोद उतारेंगे,
सब मिलकर पाँव पखारेंगे।

"पद - त्राण भीम पहनायेगा, धर्माधिप चँवर डुलायेगा।
पहरे पर पार्थ प्रवर होंगे, सहदेव - नकुल अनुचर होंगे।
भोजन उत्तरा बनायेगी,
पाञ्चाली पान खिलायेगी।

"आहा ! क्या दृश्य सुभग होगा ! आनन्द - चमत्कृत जग होगा।
सब लोग तुझे पहचानेंगे, असली स्वरूप में जानेंगे।
खोयी मणि को जब पायेगी,
कुन्ती फूली न समायेगी।

"रण अनायास रुक जायेगा, कुरुराज स्वयं झुक जायेगा।
संसार बड़े सुख में होगा, कोई न कहीं दुख में होगा।
सब गीत खुशी के गायेंगे,
तेरा सौभाग्य मनायेंगे।

"कुरुराज्य समर्पण करता हूँ, साम्राज्य समर्पण करता हूँ :
यश, मुकुट, मान, सिंहासन ले, बस एक भीख मुझको दे दे।
कौरव को तज रण रोक सखे,
भू का हर भावी शोक सखे।"

सुन-सुन कर कर्ण अधीर हुआ, क्षण एक तनिक गम्भीर हुआ ;
फिर कहा, "बड़ी यह माया है, जो कुछ आपने बताया है।
दिनमणि से सुनकर वही कथा,
मैं भोग चुका हूँ ग्लानि, व्यथा।

"जब ध्यान जन्म का धरता हूँ, उन्मन यह सोचा करता हूँ,
कैसी होगी वह माँ कराल, निज तन से जो शिशु को निकाल,
धाराओं में धर जाती है,
अथवा जीवित दफनाती है ?

"सेवती मास दस तक जिसको, पालती उदर में रख जिसको,
जीवन का अंश खिलाती है, अन्तर का रुधिर पिलाती है ;
आती फिर उसको फेंक कहीं,
नागिन होगी, वह नारि नहीं।

"हे कृष्ण ! आप चुप ही रहिये, इसपर न अधिक कुछ भी कहिये,
सुनना चाहते तनिक श्रवण, जिस माँ ने मेरा किया जनन,
वह नहीं नारि कुलपाली थी,
सर्पिणी परम विकराली थी।

"पत्थर-समान उसका हिय था, सुत से समाज बढ़ कर प्रिय था,
गोदी में आग लगा करके, मेरा कुल - वंश छिपा करके,
दुश्मन का उसने काम किया,
माताओं को बदनाम किया।

"माँ का पय भी न पिया मैंने, उलटे, अभिशाप लिया मैंने।
वह तो यशस्विनी बनी रही, सबकी भ मुझपर तनी रही।
कन्या वह रही अपरिणीता,
जो कुछ बीता, मुझपर बीता।

"मैं जाति - गोत्र से हीन, दीन, राजाओं के सम्मुख मलीन,
जब रोज अनादर पाता था, कह 'शूद्र' पुकारा जाता था।
पत्थर की छाती फटी नहीं,
कुन्ती तब भी तो कटी नहीं।

"मैं सूत - वंश में पलता था, अपमान - अनल में जलता था,
सब देख रही थी दृश्य पृथा, माँ की ममता, पर, हुई वृथा।
छिपकर भी तो सुधि ले न सकी,
छाया अञ्चल की दे न सकी।

"पा पाँच तनय फूली - फूली, दिन - रात बड़े सुख में भूली,
कुन्ती गौरव में चूर रही, मुझ पतित पुत्र से दूर रही।
क्या हुआ कि अब अकुलाती है?
किस कारण मुझे बुलाती है?

"क्या पाँच पुत्र हो जाने पर, सुत के धन - धाम गंवाने पर,
या महानाश के छाने पर, अथवा मन के घबराने पर ?
नारियाँ सदय हो जाती हैं?
बिछुड़े को गले लगाती हैं?

"कुन्ती जिस भय से भरी रही, तज मुझे, दूर हट खड़ी रही,
वह पाप अभी भी है मुझमें, वह शाप अभी भी है मुझमें।
क्या हुआ कि वह डर जायेगा ?
कुन्ती को काट न खायेगा ?

"सहसा क्या हाल विचित्र हुआ ? मैं कैसे पुण्य - चरित्र हुआ ?
कुन्ती का क्या चाहता हृदय ? मेरा सुख, या पाण्डव की जय ?
यह अभिनन्दन नूतन क्या है ?
केशव ! यह परिवर्त्तन क्या है ?

"मैं हुआ धनुर्धर जब नामी, सब लोग हुए हित के कामी ;
पर, ऐसा भी था एक समय, जब यह समाज निष्ठुर, निर्दय,
किञ्चित् न स्नेह दर्शाता था,
विषव्यंग्य सदा बरसाता था।

"उस समय सुअङ्क लगा करके, अञ्चल के तले छिपा करके,
चुम्बन से कौन मुझे भरकर, ताड़ना - ताप लेती थी हर ?
राधा को छोड़ भजूँ किसको ?
जननी है वही, तजूँ किसको ?

"हे कृष्ण ! जरा यह भी सुनिये, सच है कि झूठ, मन में गुनिये।
धूलों में था मैं पड़ा हुआ, किसका सनेह पा बड़ा हुआ ?
किसने मुझको सम्मान दिया,
नृपता दे महिमावान किया ?

"अपना विकास अवरुद्ध देख, सारे समाज को क्रुद्ध देख,
भीतर जब टूट चुका था मन, आ गया अचानक दुर्योधन।
निश्छल, पवित्र अनुराग लिये,
मेरा समस्त सौभाग्य लिये।

"कुन्ती ने केवल जन्म दिया, राधा ने माँ का कर्म किया,
पर, कहते जिसे असल जीवन, देने आया वह दुर्योधन।
वह नहीं भिन्न माता से है,
बढ़कर सोदर भ्राता से है।

"राजा रङ्क से बना करके, यश, मान, मुकुट पहना करके,
बाँहों पर मुझे उठा करके, सामने जगत् के ला करके;
करतब क्या-क्या न किया उसने ?
मुझको नव जन्म दिया उसने।

"है ऋणी कर्ण का रोम-रोम, जानते सत्य यह सूर्य-सोम,
तन, मन, धन दुर्योधन का है, यह जीवन दुर्योधन का है।
सुरपुर से भी मुख मोड़ूँगा,
केशव ! मैं उसे न छोड़ूँगा।

"सच है, मेरी है आस उसे, मुझपर अटूट विश्वास उसे,
हाँ, सच है मेरे ही बस पर, ठाना है उसने महासमर।
पर, मैं कैसा पापी हूँगा,
दुर्योधन को धोखा दूँगा ?

रह साथ सदा खेला, खाया, सौभाग्य-सुयश उससे पाया,
अब जब विपत्ति आने को है, घनघोर प्रलय छाने को है,
तज उसे भाग यदि जाऊँगा,
कायर, कृतघ्न कहलाऊँगा।

"मैं भी कुन्ती का एक तनय, किसको होगा इसका प्रत्यय ?
संसार मुझे धिक्कारेगा, मन में वह यही विचारेगा;
फिर गया तुरत, जब राज मिला,
यह कर्ण बड़ा पापी निकला।

"मैं ही न सहूँगा विषम डङ्क, अर्जुन को भी होगा कलङ्क,
सब लोग कहेंगे, डरकर ही, अर्जुन ने अद्भुत नीति गही।
चल चाल कर्ण को फोड़ लिया,
सम्बन्ध अनोखा जोड़ लिया।

"कोई न कहीं भी चूकेगा, सारा जग मुझपर थूकेगा,
तप, त्याग, शील, जप, योग, दान, मेरे होंगे मिट्टी - समान।
लोभी—लालची कहाऊँगा,
किसको, क्या मुख दिखलाऊँगा ?

"जो आज आप कह रहे आर्य, कुन्ती के मुख से कृपाचार्य,
सुन वही, हुए लज्जित होते, हम क्यों रण को सज्जित होते ?
मिलता न कर्ण दुर्योधन को,
पाण्डव न कभी जाते वन को।

"लेकिन, नौका तट छोड़ चली, कुछ पता नहीं, किस ओर चली।
यह बीच नदी की धारा है, सूझता न कूल - किनारा है।
ले लील भले यह धार मुझे।
लौटना नहीं स्वीकार मुझे।

"धर्माधिराज का ज्येष्ठ बनूँ ? भारत में सबसे श्रेष्ठ बनूँ ?
कुल की पोशाक पहन करके, सिर उठा चलूँ कुछ तन करके ?
इस झूठ - मूठ में रस क्या है ?
केशव ! यह सुयश सुयश क्या है ?

"सिर पर कुलीनता का टीका, भीतर जीवन का रस फीका,
अपना न नाम जो ले सकते, परिचय न तेज से दे सकते,
ऐसे भी कुछ नर होते हैं,
कुल को खाते औ' खोते हैं।

"विक्रमी पुरुष लेकिन, सिर पर, चलता न छत्र पुरखों का धर,
अपना बल-तेज जगाता है, सम्मान जगत् से पाता है।
सब उसे देख ललचाते हैं,
कर विविध यत्न अपनाते हैं।

"कुल-गोत्र नहीं साधन मेरा, पुरुषार्थ एक बस धन मेरा,
कुल ने तो मुझको फेंक दिया, मैंने हिम्मत से काम लिया।
अब वंश चकित भरमाया है,
खुद मुझे खोजने आया है,

"लेकिन, मैं लौट चलूंगा क्या? अपने प्रण से विचलूंगा क्या?
रण में कुरुपति का विजय-वरण, या पार्थ-हाथ कर्ण का मरण।
हे कृष्ण! यही मति मेरी है,
तीसरी नहीं गति मेरी है।

"मैत्री की बड़ी सुखद छाया, शीतल हो जाती है काया,
धिक्कार-योग्य होगा वह नर, जो पाकर भी ऐसा तरुवर,
हो अलग खड़ा कटवाता है,
खुद आप नहीं कट जाता है।

"जिस नर की बाँह गही मैंने, जिस तरु की छाँह गही मैंने,
उसपर न वार चलने दूंगा, कैसे कुठार चलने दूंगा?
जीते जी उसे बचाऊंगा,
या आप स्वयं कट जाऊंगा।

"मित्रता बड़ा अनमोल रतन, कब इसे तोल सकता है धन?
धरती की तो है क्या बिसात? आ जाय अगर वैकुण्ठ हाथ,
उसको भी न्योछावर कर दूं,
कुरुपति के चरणों पर धर दूं।

"सिर लिये स्कन्ध पर चलता हूँ, उस दिन के लिए मचलता हूँ.
यदि चले वज्र दुर्योधन पर, ले लूँ बढ़कर अपने ऊपर।
कटवा दूं उसके लिए गला,
चाहिये मुझे क्या और भला ?

"सम्राट् बनेंगे धर्मराज, या पायेगा कुरुराज ताज;
लड़ना भर मेरा काम रहा, दुर्योधन का संग्राम रहा।
मुझको न कहीं कुछ पाना है,
केवल ऋण मात्र चुकाना है।

"कुरुराज्य चाहता मैं कब हूँ ? साम्राज्य चाहता मैं कब हूँ ?
क्या नहीं आपने भी जाना ? मुझको न आज तक पहचाना ?
जीवन का मूल समझता हूँ,
धन को मैं धूल समझता हूँ।

"धनराशि जोगना लक्ष्य नहीं, साम्राज्य भोगना लक्ष्य नहीं,
भुजबल से कर संसार - विजय, अगणित समृद्धियों का सञ्चय,
दे दिया मित्र दुर्योधन को,
तृष्णा छू भी न सकी मन को।

"वैभव - विलास की चाह नहीं, अपनी कोई परवाह नहीं,
बस, यही चाहता हूँ केवल, दान की देव - सरिता निर्मल,
करतल से झरती रहे सदा,
निर्धन को भरती रहे सदा !

"तुच्छ है, राज्य क्या है केशव ? पाता क्या नर कर प्राप्त विभव ?
चिन्ता प्रभूत, अत्यल्प हास, कुछ चाकचिक्य, कुछ क्षण विलास।
पर, वह भी यहीं गँवाना है,
कुछ साथ नहीं ले जाना है !

"मुझ - से मनुष्य जो होते हैं, कञ्चन का भार न ढोते हैं।
पाते हैं धन बिखराने को, लाते हैं रतन लुटाने को।
जग से न कभी कुछ लेते हैं,
दान ही हृदय का देते हैं।

"प्रासादों के कनकाभ शिखर, होते कबूतरों के ही घर,
महलों में गरुड़ न होता है, कञ्चन पर कभी न सोता है।
बसता वह कहीं पहाड़ों में,
शैलों की फटी दरारों में।

"होकर समृद्ध, सुख के अधीन, मानव होता नित तपःक्षीण,
सत्ता, किरीट, मणिमय आसन, करते मनुष्य का तेज - हरण।
नर विभव - हेतु ललचाता है,
पर वही मनुज को खाता है।

"चाँदनी, पुष्पछाया में पल, नर भले बने सुमधुर, कोमल,
पर, अमृत क्लेश का पिये बिना, आतप, अन्धड़ में जिये बिना।
वह पुरुष नहीं कहला सकता,
विघ्नों को नहीं हिला सकता।

"उड़ते जो झंझावातों में, पीते जो वारि प्रपातों में,
सारा आकाश अयन जिनका, विषधर भुजङ्ग भोजन जिनका,
वे ही फणिबन्ध छुड़ाते हैं,
धरती का हृदय जुड़ाते हैं।

"मैं गरुड़ कृष्ण ! मैं पक्षिराज, सिर पर न चाहिये मुझे ताज।
दुर्योधन पर है विपद् घोर, सकता न किसी विधि उसे छोड़।
रणखेत पाटना है मुझको,
अहिपाश काटना है मुझको।

"संग्राम - सिन्धु लहराता है, सामने प्रलय घहराता है,
रह - रहकर भुजा फड़कती है, बिजली - सी नसें कड़कती हैं।
चाहता तुरत मैं कूद पड़ूँ,
जीतूँ कि समर में डूब मरूँ।

"अब देर नहीं कीजै केशव ! अवसेर नहीं कीजै केशव !
धनु की डोरी तन जाने दें, संग्राम तुरत ठन जाने दें।
ताण्डवी तेज लहरायेगा,
संसार ज्योति कुछ पायेगा।

"पर, एक विनय है मधुसूदन ! मेरी यह जन्म - कथा गोपन;
मत कभी युधिष्ठिर से कहिये, जैसे हो, इसे दबा रहिये।
वे इसे जान यदि पायेंगे,
सिंहासन को ठुकरायेंगे।

"साम्राज्य न कभी स्वयं लेंगे, सारी सम्पत्ति मुझे देंगे,
मैं भी न उसे रख पाऊँगा, दुर्योधन को दे आऊँगा।
पाण्डव वञ्चित रह जायेंगे,
दुख से न छूट वे पायेंगे।

"अच्छा, अब चला, प्रणाम आर्य ! हों सिद्ध समर के शीघ्र कार्य।
रण में ही अब दर्शन होगा, शर से चरण - स्पर्शन होगा।
जय हो, दिनेश नभ में विहरें,
भूतल में दिव्य प्रकाश भरें।"

"रथ से राधेय उतर आया, हरि के मन में विस्मय छाया,
बोले कि "वीर ! शत बार धन्य, तुझ - सा न मित्र कोई अनन्य।
तू कुरुपति का ही नहीं प्राण,
नरता का है भूषण महान।"

चतुर्थ सर्ग

जीवन का अभियान दान-बल से अजस्र चलता है;
उतनी बढ़ती ज्योति, स्नेह जितना अनल्प जलता है।
और दान में रोकर या हँस कर हम जो देते हैं,
अहङ्कारवश उसे स्वत्व का त्याग मान लेते हैं।

यह न स्वत्व का त्याग, दान तो जीवन का झरना है,
रखना उसको रोक मृत्यु के पहले ही मरना है।
किस पर करते कृपा वृक्ष यदि अपना फल देते हैं?
गिरने से उसको सँभाल क्यों रोक नहीं लेते हैं?

ऋतु के बाद फलों का रुकना डालों का सड़ना है,
मोह दिखाना देय वस्तु पर आत्मघात करना है।
देते तरु इसलिए कि रेशों में मत कीट समायें,
रहें डालियाँ स्वस्थ और फिर नये-नये फल आयें।

सरिता देती वारि कि पाकर उसे सुपूरित घन हो,
बरसे मेघ, भरे फिर सरिता, उदित नया जीवन हो।
आत्मदान के साथ जगज्जीवन का ऋजु नाता है,
जो देता जितना बदले में उतना ही पाता है।

दिखलाना कार्पण्य आप अपने धोखा खाना है,
रखना दान अपूर्ण रिक्त निज का ही रह जाना है।
व्रत का अन्तिम मोल चुकाते हुए न जो रोते हैं,
पूर्ण-काम जीवन से एकाकार वही होते हैं।

जो नर आत्मदान से अपना जीवन-घट भरता है,
वही मृत्यु के मुख में भी पड़कर न कभी मरता है।
जहाँ कहीं है ज्योति जगत् में, जहाँ कहीं उजियाला,
वहाँ खड़ा है कोई अन्तिम मोल चुकानेवाला।

व्रत का अन्तिम मोल राम ने दिया, त्याग सीता को,
जीवन की सङ्गिनी, प्राण की मणि को, सुपुनीता को।
दिया अस्थि देकर दधीचि ने, शिवि ने अङ्ग कतर कर,
हरिश्चन्द्र ने कफन माँगते हुए सत्य पर अड़ कर।

ईसा ने संसार-हेतु शूली पर प्राण गँवा कर,
अन्तिम मूल्य दिया गाँधी ने तीन गोलियाँ खाकर।
सुन अन्तिम ललकार मोल माँगते हुए जीवन की,
सरमद ने हँसकर उतार दी त्वचा समूचे तन की।

हँसकर लिया मरण ओठों पर, जीवन का व्रत पाला।
अमर हुआ सुकरात जगत् में पीकर विष का प्याला।
मर कर भी मनसूर नियति की सह पाया न ठिठोली,
उत्तर में सौ बार चीख कर बोटी-बोटी बोली।

दान जगत् का प्रकृत धर्म है, मनुज व्यर्थ डरता है,
एक रोज तो हमें स्वयं सब-कुछ देना पड़ता है।
बचते वही, समय पर जो सर्वस्व दान करते हैं,
ऋतु का ज्ञान नहीं जिनको, वे देकर भी मरते हैं।

वीर कर्ण, विक्रमी, दान का अति अमोघ व्रतधारी,
पाल रहा था बहुत काल से एक पुण्य-प्रण भारी।
रवि-पूजन के समय सामने जो याचक आता था,
मुँहमाँगा वह दान कर्ण से अनायास पाता था।

फहर रही थी मुक्त चतुर्दिक् यश की विमल पताका,
कर्ण नाम पड़ गया दान की अतुलनीय महिमा का।
श्रद्धा - सहित नमन करते सुन नाम देश के ज्ञानी,
अपना भाग्य समझ भजते थे उसे भाग्यहत प्राणी।

तब कहते हैं, एक बार हटकर प्रत्यक्ष समर से,
किया नियति ने वार कर्ण पर, छिपकर, पुण्य - विवर से।
व्रत का निकष दान था, अबकी चढ़ी निकष पर काया,
कठिन मूल्य माँगने सामने भाग्य देह धर आया।

एक दिवस जब छोड़ रहे थे दिनमणि मध्य गगन को,
कर्ण जाह्नवी - तीर खड़ा था मुद्रित किये नयन को,
कटि तक डूबा हुआ सलिल में, किसी ध्यान में रत - सा,
अम्बुधि में आकटक निमज्जित कनक - खचित पर्वत - सा।

हंसती थीं रश्मियाँ रजत से भरकर वारि विमल को,
हो उठती थीं स्वयं स्वर्ण छू कवच और कुण्डल को।
किरण - सुधा पी कमल मोद में भरकर दमक रहा था,
कदली के चिकने पातों पर पारद चमक रहा था।

विहग लता - वीरुध - वितान में तट पर चंहक रहे थे,
धूप, दीप, कर्पूर, फूल, सब मिलकर महक रहे थे।
पूरी कर पूजा - उपासना ध्यान कर्ण ने खोला,
इतने में ऊपर तट पर खर - पात कहीं कुछ डोला।

कहा कर्ण ने, "कौन उधर है? बन्धु, सामने आओ,
मैं प्रस्तुत हो चुका, स्वस्थ हों, निज आदेश सुनाओ।
अपनी पीड़ा कहो, कर्ण सबका विनीत अनुचर है;
यह विपन्न का सखा तुम्हारी सेवा में तत्पर है।

"माँगो, माँगो दान, अन्न या वसन, धाम या धन दूं?
अपना छोटा राज्य या कि यह क्षणिक, क्षुद्र जीवन दूं?
मेघ भले लौटें उदास हो किसी रोज सागर से,
याचक फिर सकते निराश पर, नहीं कर्ण के घर से।

"पर का दुःख हरण करने में ही अपना सुख माना,
भाग्यहीन मैंने जीवन में और स्वाद क्या जाना?
आओ, उऋण बनूं तुमको भी न्यास तुम्हारा देकर,
उपकृत करो मुझे, अपनी सञ्चित निधि मुझसे लेकर।

"अरे, कौन है भिक्षु यहाँ पर! और कौन दाता है?
अपना ही अधिकार मनुज नाना विधि से पाता है।
कर पसार कर जब भी तुम मुझसे कुछ ले लेते हो,
तृप्त भाव से हेर मुझे क्या चीज नहीं देते हो?

"दीनों का सन्तोष, भाग्यहीनों की गद्‌गद वाणी,
नयन-कोर में भरा लबालब कृतज्ञता का पानी,
हो जाना फिर हरा युगों से मुरझाये अधरों का,
पाना आशीर्वचन, प्रेम, विश्वास अनेक नरों का।

"इससे बढ़कर और प्राप्ति क्या जिस पर गर्व करें हम?
पर को जीवन मिले अगर तो हँस कर क्यों न मरें हम?
मोल-तोल कुछ नहीं, माँग लो जो कुछ तुम्हें सुहाये,
मुंह-माँगा ही दान सभी को हम हैं देते आये।"

गिरा गहन सुन चकित और मन-ही-मन कुछ भरमाया,
लता-ओट से एक विप्र सामने कर्ण के आया।
कहा कि "जय हो, हमने भी है सुनी सुकीर्त्ति-कहानी,
नहीं आज कोई त्रिलोक में कहीं आप-सा दानी।

"नहीं फिराते एक बार जो कुछ मुख से कहते हैं,
प्रण - पालन के लिए आप बहु भाँति कष्ट सहते हैं।
आश्वासन से ही अभीत हो सुख विपन्न पाता है,
कर्ण - वचन सर्वत्र कार्यवाचक माना जाता है।

"लोग दिव्य शत - शत प्रमाण निष्ठा के बतलाते हैं,
शिवि - दधीचि - प्रह्लाद - कोटि में आप गिने जाते हैं।
सबका है विश्वास, मृत्यु से आप न डर सकते हैं,
हंस कर प्रण के लिए प्राण न्योछावर कर सकते हैं।

"ऐसा है तो मनुज - लोक, निश्चय, आदर्श पायेगा,
स्वर्ग किसी दिन भीख माँगने मिट्टी पर आयेगा।
किन्तु, भाग्य है बली, कौन किससे कितना पाता है,
यह लेखा नर के ललाट में ही देखा जाता है।

"क्षुद्र पात्र हो मग्न कूप में जितना जल लेता है,
उससे अधिक वारि सागर भी उसे नहीं देता है।
अतः, व्यर्थ है देख बड़ों को बड़ी वस्तु की आशा,
किस्मत भी चाहिये, नहीं केवल ऊँची अभिलाषा।"

कहा कर्ण ने, "वृथा भाग्य से आप डरे जाते हैं,
जो है सम्मुख खड़ा, उसे पहचान नहीं पाते हैं।
विधि ने था क्या लिखा भाग्य में, खूब जानता हूँ मैं,
बाँहों को, पर, कहीं भाग्य से बली मानता हूँ मैं।

"महाराज, उद्यम से विधि का अङ्क उलट जाता है,
किस्मत का पाशा पौरुष से हार पलट जाता है।
और उच्च अभिलाषाएं तो मनुज मात्र का बल हैं,
जगा - जगा कर हमें वही तो रखतीं नित चञ्चल हैं।

"आगे जिसकी नज़र नहीं, वह भला कहाँ जायेगा?
अधिक नहीं चाहता, पुरुष वह कितना धन पायेगा?
अच्छा, अब उपचार छोड़ बोलिये, आप क्या लेंगे,
सत्य मानिये, जो माँगेंगे आप, वही हम देंगे।

"मही डोलती और डोलता नभ में देव-निलय भी,
कभी-कभी डोलता समर में किञ्चित् वीर-हृदय भी।
डोले मूल अचल पर्वत का, या डोले ध्रुवतारा,
सब डोलें, पर नहीं डोल सकता है वचन हमारा।

भली-भाँति कस कर दाता को, बोला नीच भिखारी,
"धन्य-धन्य, राधेय! दान के अति अमोघ व्रतधारी।
ऐसा है औदार्य, तभी तो कहता प्रति याचक है,
महाराज का वचन सदा, सर्वत्र क्रियावाचक है।

"मैं सब-कुछ पा गया प्राप्त कर वचन आपके मुख से,
अब तो मैं कुछ लिये बिना भी जा सकता हूँ सुख से।
क्योंकि माँगना है जो कुछ उसको कहते डरता हूँ,
और साथ ही, एक द्विधा का भी अनुभव करता हूँ।

"कहीं आप दे सके नहीं जो कुछ मैं धन माँगूंगा,
मैं तो भला किसी विधि अपनी अभिलाषा त्यागूंगा;
किन्तु, आपकी कीर्त्ति-चाँदनी फीकी हो जायेगी,
निष्कलङ्क विधु कहाँ दूसरा फिर वसुधा पायेगी?

"है सुकर्म, क्या सङ्कट में डालना मनस्वी नर को?
प्रण से डिगा आपको दूंगा क्या उत्तर जग भर को?
सब कोसेंगे मुझे कि मैंने पुण्य मही का लूटा,
मेरे ही कारण अभङ्ग प्रण महराज का टूटा।

"अतः, विदा दें मुझे, खुशी से मैं वापस जाता हूँ।"
बोल उठा राधेय, "आपको मैं अद्भुत पाता हूँ।
सुर हैं याकि यक्ष हैं अथवा हरि के मायाचर हैं,
समझ नहीं पाता कि आप नर हैं या योनि इतर हैं।

"भला कौन-सी वस्तु आप मुझ नश्वर से माँगेंगे,
जिसे नहीं पाकर, निराश हो, अभिलाषा त्यागेंगे?
गो, धरती, धन, धाम, वस्तु जितनी चाहें, दिलवा दूँ,
इच्छा हो तो शीश काट कर पद पर यहीं चढ़ा दूँ।

"या यदि साथ लिया चाहें जीवित, सदेह मुझको ही,
तो भी वचन तोड़ कर हूँगा नहीं विप्र का द्रोही।
चलिये, साथ चलूँगा मैं साकल्य आपका ढोते,
सारी आयु बिता दूंगा चरणों को धोते-धोते।

"वचन माँग कर नहीं माँगना दान बड़ा अद्भुत है,
कौन वस्तु है, जिसे न दे सकता राधा का सुत है?
विप्रदेव! माँगिये छोड़ सङ्कोच वस्तु मनचाही,
मरूँ अयश की मृत्यु, करूँ यदि एक बार भी नाहीं।"

सहम गया सुन शपथ कर्ण की, हृदय विप्र का डोला,
नयन झुकाये हुए भिक्षु साहस समेट कर बोला,
"धन की लेकर भीख नहीं मैं घर भरने आया हूँ,
और नहीं नृप को अपना सेवक करने आया हूँ।

"यह कुछ मुझको नहीं चाहिये, देव धर्म को बल दें,
देना हो तो मुझे कृपा कर कवच और कुण्डल दें।"
'कवच और कुण्डल!' विद्युत् छू गयी कर्ण के तन को,
पर, कुछ सोच रहस्य, कहा उसने गभीर कर मन को।

"समझा, तो यह और न कोई; आप स्वयं सुरपति हैं,
देने को आये प्रसन्न हो तप में नयी प्रगति हैं।
धन्य हमारा सुयश आपको खींच मही पर लाया,
स्वर्ग भीख माँगने आज, सच ही, मिट्टी पर आया।

"क्षमा कीजिये, इस रहस्य को तुरत न जान सका मैं,
छिप कर आये आप, नहीं इससे पहचान सका मैं।
दीन विप्र ही समझ कहा—धन, धाम, धरा लेने को,
था क्या मेरे पास अन्यथा सुरपति को देने को!

"केवल गन्ध जिन्हें प्रिय, उनको स्थूल मनुज क्या देगा?
और व्योमवासी मिट्टी से दान भला क्या लेगा?
फिर भी देवराज भिक्षुक बन कर यदि हाथ पसारें,
जो भी हो, पर, इस सुयोग को हम क्यों अशुभ विचारें?

"अतः, आपने जो माँगा है, दान वही मैं दूंगा,
शिवि - दधीचि की पंक्ति छोड़कर जग में अयश न लूंगा।
पर, कहता हूँ, मुझे बना निस्त्राण छोड़ते हैं क्यों?
कवच और कुण्डल ले करके प्राण छोड़ते हैं क्यों?

"यह, शायद, इसलिए कि अर्जुन जिये, आप सुख लूटें,
व्यर्थ न उसके शर अमोघ मुझपर टकरा कर टूटें।
उधर करें बहु भाँति पार्थ की स्वयं कृष्ण रखवाली,
और इधर मैं लड़ूँ लिये यह देह कवच से खाली।

"तनिक सोचिये, वीरों का यह योग्य समर क्या होगा?
इस प्रकार से मुझे मार कर पार्थ अमर क्या होगा?
एक बाज़ का पङ्ख तोड़ कर करना अभय अपर को,
सुर को शोभे भले, नीति यह नहीं शोभती नर को।

"यह तो निहत शरभ पर चढ़ आखेटक पद पाना है,
जहर पिला मृगपति को उसपर पौरुष दिखलाना है।
यह तो साफ समर से होकर भीत विमुख होना है,
जय निश्चित हो जाय तभी रिपु के सम्मुख होना है।

"देवराज! हम जिसे जीत सकते न बाहु के बल से,
क्या है उचित उसे मारें हम न्याय छोड़ कर छल से?
हार-जीत क्या चीज? वीरता की पहचान समर है,
सच्चाई पर कभी हार कर भी न हारता नर है।

"और पार्थ यदि बिना लड़े ही जय के लिए विकल है,
तो कहता हूँ, इस जय का भी एक उपाय सरल है।
कहिये उसे, मोम की मेरी एक मूर्त्ति बनवाये,
और काट कर उसे, जगत् में कर्णजयी कहलाये।

"जीत सकेगा मुझे नहीं वह और किसी विधि रण में,
कर्ण-विजय की आश तड़प कर रह जायेगी मन में।
जीते जूझ समर वीरों ने सदा बाहु के बल से,
मुझे छोड़ रक्षित जनमा था कौन कवच-कुण्डल से?

"मैं ही था अपवाद, आज वह भी विभेद हरता हूँ,
कवच छोड़ अपना शरीर सबके समान करता हूँ।
अच्छा किया कि आप मुझे समतल पर लाने आये,
हर तनुत्र दैवीय; मनुज सामान्य बनाने आये।

"अब न कहेगा जगत्, कर्ण को ईश्वरीय भी बल था,
जीता वह इसलिए कि उसके पास कवच-कुण्डल था।
महाराज! किस्मत ने मेरी की न कौन अवहेला?
किस आपत्ति-गर्त्त में उसने मुझको नहीं ढकेला?

"जनमा जानें कहाँ, पला पद-दलित सूत के कुल में,
परिभव सहता रहा विफल प्रोत्साहन-हित व्याकुल मैं।
द्रोणदेव से हो निराश वन में भृगुपति तक धाया,
बड़ी भक्ति की, पर, बदले में शाप भयानक पाया।

"और दान, जिसके कारण ही हुआ ख्यात मैं जग में,
आया है बन विघ्न सामने आज विजय के मग में।
ब्रह्मा के हित उचित मुझे क्या इस प्रकार छलना था?
हवन डालते हुए यज्ञ में मुझको ही जलना था?

"सबको मिला स्नेह की छाया, नयी-नयी सुविधाएँ,
नियति भेजती रही सदा, पर, मेरे हित विपदाएँ।
मन-ही-मन सोचता रहा हूँ, यह रहस्य भी क्या है,
खोज-खोज घेरती मुझी को क्यों बाधा-विपदा है?

"और कहें यदि पूर्व जन्म के पापों का यह फल है,
तो फिर विधि ने दिया मुझे क्यों कवच और कुण्डल है?
समझ नहीं पड़ती, विरञ्चि की बड़ी जटिल है माया,
सब-कुछ पाकर भी मैंने यह भाग्य-दोष क्यों पाया?

"जिससे मिलता नहीं सिद्ध फल मुझे किसी भी व्रत का,
उलटा हो जाता प्रभाव मुझपर आ धर्म सुगत का।
गङ्गा में ले जन्म, वारि गङ्गा का पी न सका मैं,
किये सदा सत्कर्म, छोड़ चिन्ता, पर, जी न सका मैं।

"जानें क्या मेरी रचना में था उद्देश्य प्रकृति का,
मुझे बना आगार शूरता का करुणा का, धृति का,
देवोपम गुण सभी दान कर, जाने, क्या करने को,
दिया भेज भू पर केवल बाधाओं से लड़ने को?

"फिर कहता हूँ, नहीं व्यर्थ राधेय यहाँ आया है,
एक नया सन्देश विश्व के हित वह भी लाया है।
स्यात्, उसे भी नया पाठ मनुजों को सिखलाना है,
जीवन - जय के लिए कहीं कुछ करतब दिखलाना है।

"वह करतब है यह कि शूर जो चाहे कर सकता है,
नियति - भाल पर पुरुष पाँव निज बल से धर सकता है।
वह करतब है यह कि शक्ति बसती न वंश या कुल में,
बसती है वह सदा वीर पुरुषों के वक्ष पृथुल में।

"वह करतब है यह कि विश्व ही चाहे रिपु हो जाये,
दगा धर्म दे और पुण्य चाहे ज्वाला बरसाये;
पर, मनुष्य तब भी न कभी सत्पथ से टल सकता है,
बल से अन्धड़ को धकेल वह आगे चल सकता है।

"वह करतब है यह कि युद्ध में मारो और मरो तुम,
पर, कुपन्थ में कभी जीत के लिए न पाँव धरो तुम।
वह करतब है यह कि सत्य - पथ पर चाहे कट जाओ,
विजय - तिलक के लिए करों में कालिख पर, न लगाओ।

"देवराज ! छल, छद्म, स्वार्थ, कुछ भी न साथ लाया हूँ,
मैं केवल आदर्श, एक उनका बनने आया हूँ।
जिन्हें नहीं अवलम्ब दूसरा, छोड़ बाहु के बल को,
धर्म छोड़ भजते न कभी जो किसी लोभ से छल को।

"मैं उनका आदर्श, जिन्हें कुल का गौरव ताड़ेगा,
'नीचवंशजन्मा' कहकर जिसको जग धिक्कारेगा।
जो समाज की विषम वह्नि में चारों ओर जलेंगे,
पग - पग पर झेलते हुए बाधा निःसीम चलेंगे।

"मैं उनका आदर्श; कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे;
पूछेगा जग ; किन्तु, पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा,
मन में लिये उमङ्ग जिन्हें चिर - काल कलपना होगा।

"मैं उनका आदर्श, किन्तु, जो तनिक न घबरायेंगे,
निज चरित्रबल से समाज में पद विशिष्ट पायेंगे।
सिंहासन ही नहीं, स्वर्ग भी जिन्हें देख नत होगा,
धर्म - हेतु धन, धाम लुटा देना जिनका व्रत होगा।

"श्रम से नहीं विमुख होंगे जो दुख से नहीं डरेंगे,
सुख के लिए पाप से जो नर सन्धि न कभी करेंगे।
कर्ण - धर्म होगा धरती पर बलि से नहीं मुकरना,
जीना जिस अप्रतिम तेज से, उसी शान से मरना।

"भुज को छोड़ न मुझे सहारा किसी और सम्बल का,
बड़ा भरोसा था, लेकिन, इस कवच और कुण्डल का।
पर, उनसे भी आज दूर सम्बन्ध किये लेता हूँ,
देवराज ! लीजिये खुशी से महादान देता हूँ।

"यह लीजिये कर्ण का जीवन और जीत कुरुपति की,
कनक - रचित निश्रेणि अनूपम निज सुत की उन्नति की।
हेतु पाण्डवों के भय का, परिणाम महाभारत का,
अन्तिम मूल्य किसी दानी जीवन के दारुण व्रत का।

"जीवन देकर जय खरीदना, जग में यही चलन है,
विजय दान करता न प्राण को रख कर कोई जन है।
मगर, प्राण रखकर प्रण अपना आज पालता हूँ मैं,
पूर्णाहुति के लिए विजय का हवन डालता हूँ मैं।

"देवराज! जीवन में आगे और कीर्त्ति क्या लूँगा?
इससे बढ़कर दान अनूपम भला किसे, क्या दूँगा?
अब जाकर कहिये कि 'पुत्र! मैं वृथा नहीं आया हूँ,
अर्जुन! तेरे लिए कर्ण से विजय माँग लाया हूँ।'

"एक विनय है और, आप लौटें जब अमर भुवन को,
दे दें यह सूचना सत्य के हित में, चतुरानन को।
उद्वेलित जिसके निमित्त पृथ्वीतल का जन-जन है,
कुरुक्षेत्र में अभी शुरू भी हुआ नहीं वह रण है।

"दो वीरों ने किन्तु, लिया कर आपस में निपटारा,
हुआ जयी राधेय और अर्जुन इस रण में हारा।"
यह कह, उठा कृपाण कर्ण ने त्वचा छील क्षण भर में,
कवच और कुण्डल उतार, धर दिया इन्द्र के कर में!

चकित, भीत चहचहा उठे कुंजों में विहग बिचारे,
दिशा सन्न रह गयी देख यह दृश्य भीति के मारे।
सह न सके आघात, सूर्य छिप गये सरक कर घन में,
'साधु, साधु!' की गिरा मन्द्र गूँजी गम्भीर गगन में।

अपना कृत्य विचार, कर्ण का करतब देख निराला,
देवराज का मुखमण्डल पड़ गया ग्लानि से काला।
क्लिन्न कवच को लिये किसी चिन्ता में पगे हुए-से,
ज्यों-के-त्यों रह गये इन्द्र जड़ता में ठगे हुए-से।

पाप हाथ से निकल मनुज के सिर पर जब छाता है,
तब, सत्य ही, प्रदाह प्राण को सहा नहीं जाता है।
अहङ्कारवश इन्द्र सरल नर को छलने आये थे,
नहीं त्याग के महातेज-सम्मुख जलने आये थे।

किन्तु, विशिख जो लगा कर्ण की बलि का आन हृदय में,
बहुत काल तक इन्द्र मौन रह गये मग्न विस्मय में।
झुका शीश आखिर वे बोले, "अब क्या बात कहूँ मैं?
करके ऐसा पाप मूक भी कैसे, किन्तु, रहूँ मैं?

"पुत्र! सत्य ही, तूने पहचाना, मैं ही सुरपति हूँ,
पर, सुरत्व को भूल निवेदित करता तुझे प्रणति हूँ।
देख लिया, जो कुछ देखा था कभी न अबतक भू पर,
आज तुला पर भी नीचे है मही, स्वर्ग है ऊपर।

"क्या कह करूँ प्रबोध? जीभ काँपती, प्राण हिलते हैं,
माँगूँ क्षमादान, ऐसे तो शब्द नहीं मिलते हैं।
दे पावन पदधूलि कर्ण! दूसरी न मेरी गति है,
पहले भी थी भ्रमित, अभी भी फँसी भँवर में मति है।

नहीं जानता था कि छद्म इतना संहारक होगा,
दान कवच-कुण्डल का—ऐसा हृदय-विदारक होगा!
मेरे मन का पाप मुझी पर बनकर धूम घिरेगा,
वज्र भेद कर तुझे, तुरत मुझ पर भी आन गिरेगा।

"तेरे महातेज के आगे मलिन हुआ जाता हूँ,
कर्ण! सत्य ही, आज स्वयं को बड़ा क्षुद्र पाता हूँ।
आह! खली थी कभी नहीं मुझको, यों लघुता मेरी,
दानी! कहीं दिव्य है मुझसे आज छाँह भी तेरी।

"तृण-सा विवश डूबता, उगता, बहता उतराता हूँ,
शील-सिन्धु की गहराई का पता नहीं पाता हूँ।
घूम रहा मन-ही-मन लेकिन, मिलता नहीं किनारा,
हुई परीक्षा पूर्ण, सत्य ही, नर जीता, सुर हारा।

"हाँ, पड़ पुत्र-प्रेम में आया था छल ही करने को,
जान-बूझ कर कवच और कुण्डल तुझसे हरने को।
वह, छल हुआ प्रसिद्ध, किसे क्या मुख अब दिखलाऊँगा?
आया था बन विप्र, चोर बन कर वापस जाऊँगा।

"वन्दनीय तू कर्ण, देखकर तेज तिग्म अति तेरा,
काँप उठा था आते ही देवत्वपूर्ण मन मेरा।
किन्तु, अभी तो तुझे देख मन और डरा जाता है,
हृदय सिमटता हुआ आप-ही-आप मरा जाता है।

"दीख रहा तू मुझे ज्योति के उज्ज्वल शैल अचल-सा,
कोटि-कोटि जन्मों के सञ्चित महापुण्य के फल-सा।
त्रिभुवन में जिन अमित योगियों का प्रकाश जगता है,
उनके पुंजीभूत रूप-सा तू मुझको लगता है।

"खड़े दीखते जगन्नियन्ता पीछे मुझे गगन में,
बड़े प्रेम से लिये तुझे ज्योतिर्मय आलिंगन में।
दान, धर्म, अगणित व्रतसाधन, योग, यज्ञ, तप तेरे,
सब प्रकाश बन खड़े हुए हैं तुझे चतुर्दिक् घेरे।

"मही मग्न हो तुझे अङ्क में लेकर इठलाती है,
मस्तक सूँघ स्वत्व अपना यह कह कर बतलाती है।
'इसने मेरे अमित मलिन पुत्रों का दुख मेटा है,
सूर्यपुत्र यह नहीं, कर्ण मुझ दुखिया का बेटा है।'

"तू दानी, मैं कुटिल प्रवञ्चक, तू पवित्र, मैं पापी,
तू देकर भी सुखी और मैं लेकर भी परितापी।
तू पहुँचा है जहाँ कर्ण, देवत्व न जा सकता है,
इस महान पद को कोई मानव ही पा सकता है।

"देख न सकता अधिक और मैं कर्ण, रूप यह तेरा,
काट रहा है मुझे जागकर पाप भयानक मेरा।
तेरे इस पावन स्वरूप में जितना ही पगता हूँ,
उतना ही मैं और अधिक बर्बर - समान लगता हूँ।

"अतः कर्ण! कर कृपा यहाँ से तुरत मुझे जाने दे,
अपने इस दुर्द्धर्ष तेज से त्राण मुझे पाने दे।
मगर, विदा देने के पहले एक कृपा यह कर तू,
मुझ निष्ठुर से भी कोई ले माँग सोच कर वर तू।"

कहा कर्ण ने, "धन्य हुआ मैं आज सभी कुछ देकर,
देवराज! अब क्या होगा वरदान नया कुछ लेकर?
बस, आशिष दीजिये, धर्म में मेरा भाव अचल हो,
वही छत्र हो, वही मुकुट हो, वही कवच - कुण्डल हो।"

देवराज बोले कि "कर्ण! यदि धर्म तुझे छोड़ेगा,
निज रक्षा के लिए नया सम्बन्ध कहाँ जोड़ेगा?
और धर्म को तू छोड़ेगा भला पुत्र! किस भय से,
अभी - अभी रक्खा जब इतना ऊपर उसे विजय से?

"धर्म नहीं, मैंने तुझसे जो वस्तु हरण कर ली है,
छल से कर आघात तुझे जो निस्सहायता दी है;
उसे दूर या कम करने की है मुझको अभिलाषा,
पर, स्वेच्छा से नहीं पूजने देगा तू यह आशा।

"तू माँगे कुछ नहीं, किन्तु, मुझको अवश्य देना है,
मन का कठिन बोझ थोड़ा - सा हल्का कर लेना है।
ले अमोघ यह अस्त्र, काल को भी यह खा सकता है,
इसका कोई वार किसी पर विफल न जा सकता है।

"एक बार ही मगर, काम तू इससे ले पायेगा,
फिर यह तुरत लौटकर मेरे पास चला जायेगा।
अतः, वत्स ! मत इसे चलाना कभी वृथा चञ्चल हो,
लेना काम तभी जब तुझको और न कोई बल हो।

"दानवीर ! जय हो, महिमा का गान सभी जन गायें,
देव और नर, दोनों ही, तेरा चरित्र अपनायें।"
दे अमोघ शर-दान सिधारे देवराज अम्बर को,
व्रत का अन्तिम मूल्य चुका कर गया कर्ण निज घर को।

□

पञ्चम सर्ग

आ गया काल विकराल शान्ति के क्षय का,
निर्दिष्ट लग्न धरती पर खण्ड-प्रलय का।
हो चुकी पूर्ण योजना नियति की सारी,
कल ही होगा आरम्भ समर अति भारी।

कल जैसे ही पहली मरीचि फूटेगी,
रण में शर पर चढ़ महामृत्यु छूटेगी।
संहार मचेगा, तिमिर घोर छायेगा,
सारा समाज दृगवंचित हो जायेगा।

जन-जन स्वजनों के लिए कुटिल यम होगा,
परिजन, परिजन के हित कृतान्त-सम होगा!
कल से भाई, भाई के प्राण हरेंगे,
नर ही नर के शोणित में स्नान करेंगे।

सुध-बुध खो बैठी हुई समर-चिन्तन में,
कुन्ती व्याकुल हो उठी सोच कुछ मन में।
'हे राम! नहीं क्या यह संयोग हटेगा?
सचमुच ही, क्या कुन्ती का हृदय फटेगा?

'एक ही गोद के लाल, कोख के भाई,
सत्य ही, लड़ेंगे हो दो ओर लड़ाई?
सत्य ही, कर्ण अनुजों के प्राण हरेगा?
अथवा, अर्जुन के हाथों स्वयं मरेगा?

'दो में जिसका उर फटे, फटूँगी मैं ही,
जिसकी भी गरदन कटे, कटूँगी मैं ही।
पार्थ को कर्ण, या पार्थ कर्ण को मारे,
बरसेंगे किस पर मुझे छोड़ अंगारे?'

चिन्ताकुल, उलझी हुई व्यथा में, 'मन से,
बाहर आयी कुन्ती, कढ़ विदुर-भवन से।
सामने तपन को देख, तनिक घबरा कर,
सितकेशी, सम्भ्रममयी चली सकुचा कर।

उड़ती वितर्क-धागे पर, चंग-सरीखी,
सुधियों की सहती चोट प्राण पर तीखी,
आशा-अभिलाषा-भरी, डरी भरमायी,
कुन्ती ज्यों-त्यों जाह्नवी-तीर पर आयी।

दिनमणि पश्चिम की ओर क्षितिज के ऊपर,
थे घट उँड़ेलते खड़े कनक के भू पर।
लालिमा बहा अग-जग को नहलाते थे,
खुद भी लज्जा से लाल हुए जाते थे।

राधेय सान्ध्य पूजन में ध्यान लगाये,
था खड़ा विमल जल में, युग बाहु उठाये।
तन में रवि का अप्रतिम तेज जगता था,
दीपित ललाट अपरार्क-सदृश लगता था।

मानो, युग-स्वर्णिम-शिखर-मूल में आकर,
हो बैठ गया, सचमुच ही, सिमट विभाकर।
अथवा मस्तक पर अरुण देवता को ले,
हो खड़ा तीर पर गरुड़ पंख निज खोले।

या दो अर्चियाँ विशाल पुनीत अनल की,
हों सजा रहीं आरती विभा - मण्डल की।
अथवा अगाध कञ्चन में कहीं नहा कर,
मैनाक शैल हो खड़ा बाहु फैला कर।

सुत की शोभा को देख मोद में फूली,
कुन्ती क्षण - भर को व्यथा - वेदना भूली।
भर कर ममता - पय से निष्पलक नयन को,
वह खड़ी सींचती रही पुत्र के तन को।

आहट पाकर जब ध्यान कर्ण ने खोला,
कुन्ती को सम्मुख देख विनत हो बोला,
"पद पर अन्तर का भक्ति - भाव धरता हूँ,
राधा का सुत मैं, देवि! नमन करता हूँ।

"हैं आप कौन? किसलिए यहाँ आयी हैं?
मेरे निमित्त आदेश कौन लायी हैं?
यह कुरुक्षेत्र की भूमि, युद्ध का स्थल है,
अस्तमित हुआ चाहता विभामण्डल है।

"सूना, औघट यह घाट, महा भयकारी,
उस पर भी प्रवया आप अकेली नारी।
हैं कौन? देवि! कहिये, क्या काम करूँ मैं?
क्या भक्ति - भेंट चरणों पर आन धरूँ मैं?

सुन गिरा गूढ़ कुन्ती का धीरज छूटा,
भीतर का क्लेश अपार अश्रु बन फूटा।
विगलित हो उसने कहा काँपते स्वर से,
"रे कर्ण! बेध मत मुझे निदारुण शर से।

"राधा का सुत तू नहीं, तनय मेरा है,
जो धर्मराज का, वही वंश तेरा है।
तू नहीं सूत का पुत्र, राजवंशी है,
अर्जुन-समान कुरुकुल का ही अंशी है।

"जिस तरह तीन पुत्रों को मैंने पाया,
तू उसी तरह था प्रथम कुक्षि में आया।
पा तुझे धन्य थी हुई गोद यह मेरी,
मैं ही अभागिनी पृथा जननि हूँ तेरी।

"पर, मैं कुमारिका थी, जब तू आया था,
अनमोल लाल मैंने असमय पाया था।
अतएव, हाय! अपने दुधमुँहे तनय से,
भागना पड़ा मुझको समाज के भय से।

"बेटा, धरती पर बड़ी दीन है नारी,
अबला होती, सचमुच, योषिता कुमारी।
है कठिन बन्द करना समाज के मुख को,
सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को।

"उस पर भी बाल अबोध, काल बचपन का,
सूझा न शोध मुझको कुछ और, पतन का।
मंजूषा में धर तुझे वज्र कर मन को,
धारा में आयी छोड़ हृदय के धन को।

"संयोग, सूतपत्नी ने तुझको पाला,
उन दयामयी पर तनिक न मुझे कसाला।
ले चल, मैं उनके दोनों पाँव धरूँगी,
अग्रजा मान कर सादर अङ्क भरूँगी।

"पर एक बात सुन, जो कहने आयी हूँ,
आदेश नहीं, प्रार्थना साथ लायी हूँ।
कल कुरुक्षेत्र में जो संग्राम छिड़ेगा,
क्षत्रिय - समाज पर कल जो प्रलय घिरेगा।

"उसमें न पाण्डवों के विरुद्ध हो लड़ तू,
मत उन्हें मार, या उनके हाथों मर तू।
मेरे ही सुत मेरे सुत को ही मारें,
हो क्रुद्ध परस्पर ही प्रतिशोध उतारें।

"यह विकट दृश्य मुझसे न सहा जायेगा,
अब और न मुझसे मूक रहा जायेगा।
जो छिपकर थी अबतक कुरेदती मन को,
बतला दूँगी वह व्यथा समग्र भुवन को।

"भागी थी तुझको छोड़ कभी जिस भय से,
फिर कभी न हेरा तुझको जिस संशय से,
उस जड़ समाज के सिर पर कदम धरूंगी,
डर चुकी बहुत, अब और न अधिक डरूंगी।

"बाजी तो मैं थी हार चुकी कब को ही,
लेकिन, विरञ्चि निकला कितना निर्मोही।
तुझ तक न आज तक दिया कभी भी आने,
यह गोपन जन्म - रहस्य तुझे बतलाने।

"पर, पुत्र! सोच अन्यथा न तू कुछ मन में,
यह भी होता है कभी - कभी जीवन में,
अब दौड़ वत्स! गोदी में वापस आ तू,
आ गया निकट विध्वंस, न देर लगा तू।

"जा भूल द्वेष के जहर, क्रोध के विष को,
रे कर्ण! समर में अब मारेगा किसको?
पाँचों पाण्डव हैं अनुज, बड़ा तू ही है,
अग्रज बन रक्षा-हेतु खड़ा तू ही है!

"नेता बन, कर में सूत्र समर का ले तू,
अनुजों पर छत्र विशाल बाहु का दे तू,
संग्राम जीत, कर प्राप्त विजय अति भारी।
जयमुकुट पहन, फिर भोग सम्पदा सारी।

"यह नहीं किसी भी छल का आयोजन है,
रे पुत्र! सत्य ही मैंने किया कथन है।
विश्वास न हो तो शपथ कौन मैं खाऊं?
किसको प्रमाण के लिए यहाँ बुलवाऊं?

"वह देख, पश्चिमी तट के पास गगन में,
देवता दीपते जो कनकाभ वसन में,
जिनके प्रताप की किरण अजय अद्भुत है,
तू उन्हीं अंशुधर का प्रकाशमय सुत है।"

रुक पृथा पोंछने लगी अश्रु अञ्चल से,
इतने में आयी गिरा गगन-मण्डल से,
"कुन्ती का सारा कथन सत्य कर जानो,
माँ की आज्ञा बेटा! अवश्य तुम मानो।"

यह कह दिनेश चट उतरे गये अम्बर से,
हो गये तिरोहित मिलकर किसी लहर से।
मानो, कुन्ती का भार भयानक पाकर,
वे चले गये दायित्व छोड़ घबराकर।

"डूबते सूर्य को नमन निवेदित करके,
कुन्ती के पद की धूल शीश पर धरके।
राधेय बोलने लगा बड़े ही दुख से,
तुम मुझे पुत्र कहने आयीं किस मुख से?

"क्या तुम्हें कर्ण से काम? सूत है वह तो,
माता के तन का मल, अपूत है वह तो।
तुम बड़े वंश की बेटी, ठकुरानी हो,
अर्जुन की माता, कुरुकुल की रानी हो।

"मैं नाम-गोत्र से हीन, दीन, खोटा हूँ,
सारथीपुत्र हूँ, मनुज बड़ा छोटा हूँ।
ठकुरानी! क्या लेकर तुम मुझे करोगी?
मल को पवित्र गोदी में कहाँ धरोगी?

"है कथा जन्म की ज्ञात, न बात बढ़ाओ,
मत छेड़-छेड़ मेरी पीड़ा उकसाओ।
हूँ खूब जानता, किसने मुझे जना था,
किसके प्राणों पर मैं दुर्भार बना था।

"सह विविध यातना मनुज जन्म पाता है,
धरती पर शिशु भूखा-प्यासा आता है;
माँ सहज स्नेह से ही प्रेरित अकुला कर,
पय-पान करातीं उर से उसे लगा कर।

"मुख चूम जन्म की क्लान्ति हरण करती है,
दृग से निहार अङ्क में अमृत भरती है।
पर, मुझे अङ्क में उठा न ले पायीं तुम,
पय का पहला आहार न दे पायीं तुम।

"उलटे, मुझको असहाय छोड़ कर जल में,
तुम लौट गयीं इज्जत के बड़े महल में।
मैं बचा अगर तो अपने आयुर्बल से,
रक्षा किसने की मेरी काल-कवल से ?

"क्या कोर-कसर तुमने कोई भी की थी ?
जीवन के बदले साफ मृत्यु ही दी थी।
पर, तुमने जब पत्थर का किया कलेजा,
असली माता के पास भाग्य ने भेजा।

"अब जब सब-कुछ हो चुका, शेष दो क्षण हैं,
आखिरी दाँव पर लगा हुआ जीवन है,
तब प्यार बाँध करके अञ्चल के पट में,
आयी हो निधि खोजती हुई मरघट में।

"अपना खोया संसार न तुम पाओगी,
राधा माँ का अधिकार न तुम पाओगी।
छीनने स्वत्व उसका तो तुम आयी हो,
पर, कभी बात यह भी मन में लायी हो ?

"उसको सेवा, तुमको सुकीर्त्ति प्यारी है,
तुम ठकुरानी हो, वह केवल नारी है।
तुमने तो तन से मुझे काढ़ कर फेंका,
उसने अनाथ को हृदय लगा कर सेंका।

"उमड़ी न स्नेह की उज्जवल धार हृदय से,
तुम सूख गयीं मुझको पाते ही भय से।
पर, राधा ने जिस दिन मुझको पाया था,
कहते हैं, उसको दूध उतर आया था।

"तुमने जनकर भी नहीं पुत्र कर जाना,
उसने पाकर भी मुझे तनय निज माना।
अब तुम्हीं कहो, कैसे आत्मा को मारूँ?
माता कह उसके बदले तुम्हें पुकारूँ?

"है वृथा यत्न हे देवि! मुझे पाने का,
मैं नहीं वंश में फिर वापस जाने का।
दी बिता आयु सारी कुलहीन कहा कर,
क्या पाऊँगा अब उसे आज अपना कर?

"यद्यपि जीवन की कथा कलङ्कमयी है,
मेरे समीप लेकिन, वह नहीं नयी है।
जो कुछ तुमने है कहा बड़े ही दुख से,
सुन उसे चुका हूँ मैं केशव के मुख से।

"जानें, सहसा तुम सबने क्या पाया है,
जो मुझ पर इतना प्रेम उमड़ आया है।
अब तक न स्नेह से कभी किसी ने हेरा,
सौभाग्य किन्तु, जग पड़ा अचानक मेरा।

"मैं खूब समझता हूँ कि नीति यह क्या है,
असमय में जन्मी हुई प्रीति यह क्या है।
जोड़ने नहीं बिछुड़े वियुक्त कुलजन से,
फोड़ने मुझे आयी हो दुर्योधन से।

"सिर पर आकर जब हुआ उपस्थित रण है,
हिल उठा सोच परिणाम तुम्हारा मन है।
अङ्क में न तुम मुझको भरने आयी हो,
कुरुपति को कुछ दुर्बल करने आयी हो।

"अन्यथा, स्नेह की वेगमयी यह धारा,
तट को मरोड़, झकझोर, तोड़ कर कारा,
भुज बढ़ा खींचने मुझे न क्यों आयी थी ?
पहले क्यों यह वरदान नहीं लायी थी ?

"केशव पर चिन्ता डाल, अभय हो रहना,
इस पार्थ भाग्यशाली का भी क्या कहना !
ले गये माँग कर, जनक कवच - कुण्डल को,
जननी कुण्ठित करने आयीं रिपु - बल को।

"लेकिन, यह होगा नहीं, देवि ! तुम जाओ,
जैसे भी हो, सुत का सौभाग्य मनाओ।
दें छोड़ भले ही कभी कृष्ण अर्जुन को,
मैं नहीं छोड़नेवाला दुर्योधन को।

"कुरुपति का मेरे रोम - रोम पर ऋण है,
आसान न होना उससे कभी उऋण है।
छल किया अगर, तो क्या जग में यश लूँगा ?
प्राण ही नहीं, तो उसे और क्या दूँगा ?

हो चुका धर्म के ऊपर न्योछावर हूँ,
मैं चढ़ा हुआ नैवेद्य देवता पर हूँ।
अर्पित प्रसून के लिए न यों ललचाओ,
पूजा की वेदी पर मत हाथ बढ़ाओ।"

राधेय मौन हो रहा व्यथा निज कह के,
आँखों से झरने लगे अश्रु बह - बह के।
कुन्ती के मुख में वृथा जीभ हिलती थी,
कहने को कोई बात नहीं मिलती थी।

अम्बर पर मोती-गुथे चिकुर फैला कर,
अंजन उँड़ेल सारे जग को नहला कर,
साड़ी में टाँके हुए अनन्त सितारे,
थी घूम रही तिमिरांचल निशा पसारे।

थीं दिशा स्तब्ध, नीरव समस्त अग-जग था,
कुंजों में अब बोलता न कोई खग था,
झिल्ली अपना स्वर कभी-कभी भरती थी,
जल में जब-तब मछली छप-छप करती थी।

इस सन्नाटे में दो जन सरित-किनारे,
थे खड़े शिलावत् मूक, भाग्य के मारे।
था सिसक रहा राधेय सोच यह मन में,
क्यों उबल पड़ा असमय विष कुटिल वचन में ?

क्या कहे और, यह सोच नहीं पाती थी,
कुन्ती कुत्सा से दीन मरी जाती थी।
आखिर, समेट निज मन को कहा पृथा ने,
"आयी न वेदी पर का मैं फूल उठाने।

"पर के प्रसून की नहीं, नहीं पर-धन को,
थी खोज रही मैं तो अपने ही तन को।
पर, समझ गयी, वह मुझको नहीं मिलेगा,
बिछुड़ी डाली पर कुसुम न आन खिलेगा।

"तब जाती हूँ, क्या और सकूँगी कर मैं ?
दूँगी आगे क्या भला और उत्तर मैं ?
जो किया दोष जीवन भर दारुण रहकर,
मेटूँगी क्षण में उसे बात क्या कहकर ?

"अभिलाष लिये तो बहुत बड़ी आयी थी,
पर, आस नहीं अपने बल की लायी थी।
था एक भरोसा यही कि तू दानी है,
अपनी अमोघ करुणा का अभिमानी है।

"थी विदित वत्स! तेरी यह कीर्त्ति निराली,
लौटता न कोई कभी द्वार से खाली।
पर, मैं अभागिनी ही अंचल फैला कर,
जा रही रिक्त, बेटे से भीख न पाकर।

"फिर भी तू जीता रहे, न अपयश जाने,
संसार किसी दिन तुझे पुत्र! पहचाने।
अब आ, क्षण भर मैं तुझे अङ्क में भर लूँ,
आखिरी बार तेरा आलिंगन कर लूँ।"

माँ ने बढ़कर जैसे ही कण्ठ लगाया,
हो उठी कण्टकित पुलक कर्ण की काया।
संजीवन-सी छू गयी चीज कुछ तन में,
बह चला स्निग्ध प्रस्रवण कहीं से मन में।

पहली वर्षा में मही भींगती जैसे,
भींगता रहा कुछ काल कर्ण भी वैसे।
फिर कण्ठ छोड़ बोला चरणों पर आकर,
"मैं धन्य हुआ बिछुड़ी गोदी को पाकर।

"पर, हाय, स्वत्व मेरा न समय पर लायीं,
माता, सचमुच, तुम बड़ी देर कर आयीं।
अतएव, न्यास अंचल का ले न सकूँगा,
पर, तुम्हें रिक्त जाने भी दे न सकूँगा।

"की पूर्ण सभी की, सभी तरह अभिलाषा,
जाने दूँ कैसे लेकर तुम्हें निराशा ?
लेकिन, पड़ता हूँ पाँव, जननि ! हठ त्यागो,
बन कर कठोर मुझसे मुझको मत माँगो।

"केवल निमित्त सङ्गर का दुर्योधन है,
सच पूछो तो यह कर्ण-पार्थ का रण है।
छीनो सुयोग मत, मुझे अङ्क में लेकर,
यश, मुकुट, मान, कुल, जाति, प्रतिष्ठा देकर।

"अर्जुन से लड़ना छोड़ कीर्त्ति क्या लूँगा ?
क्या स्वयं आप अपने को उत्तर दूँगा ?
मेरा चरित्र फिर कौन समझ पायेगा ?
सारा जीवन ही उलट-पलट जायेगा।

"तुम दान-दान रट रहीं, किन्तु, क्या माता,
पुत्र ही रहेगा सदा जगत् में दाता ?
दुनिया तो उससे सदा सभी कुछ लेगी,
पर, क्या माता भी उसे नहीं कुछ देगी ?

"मैं एक कर्ण अतएव, माँग लेता हूँ,
बदले में तुमको चार कर्ण देता हूँ।
छोड़ूँगा मैं तो कभी नहीं अर्जुन को,
तोड़ूँगा कैसे स्वयं पुरातन प्रण को ?

"पर, अन्य पाण्डवों पर मैं कृपा करूँगा,
पाकर भी उनका जीवन नहीं हरूँगा।
अब जाओ हर्षित-हृदय सोच यह मन में,
पालूँगा जो कुछ कहा, उसे मैं रण में।"

कुन्ती बोली, "रे हठी, दिया क्या तू ने?
निज को लेकर ले नहीं लिया क्या तू ने?
बनने आयी थी छह पुत्रों की माता,
रह गया वाम का, पर, वाम ही विधाता।

"पाकर न एक को, और एक को खोकर,
मैं चली चार पुत्रों की माता होकर।"
कह उठा कर्ण, "छह और चार को भूलो,
माता, यह निश्चय मान मोद में फूलो।

"जीते जो भी यह समर झेल दुख भारी;
लेकिन होगी माँ! अन्तिम विजय तुम्हारी।
रण में कट मर कर जो भी हानि सहेंगे,
पाँच के पाँच ही पाण्डव किन्तु रहेंगे।

"कुरुपति न जीत कर निकला अगर समर से,
या मिली वीरगति मुझे पार्थ के कर से,
तुम इसी तरह गोदी की धनी रहोगी,
पुत्रिणी पाँच पुत्रों की बनी रहोगी।

"पर, कहीं काल का कोप पार्थ पर बीता,
वह मरा और दुर्योधन ने रण जीता,
मैं एक खेल फिर जग को दिखलाऊंगा,
जय छोड़ तुम्हारे पास चला आऊंगा।

"जग में जो भी निर्दलित, प्रताड़ित जन हैं,
जो भी निहीन हैं निन्दित हैं निर्धन हैं,
यह कर्ण उन्हीं का सखा, बन्धु, सहचर है,
विधि के विरुद्ध ही उसका रहा समर है।

"सच है कि पाण्डवों को न राज्य का सुख है,
पर, केशव जिनके साथ, उन्हें क्या दुख है ?
उनसे बढ़कर मैं क्या उपकार करूँगा ?
है कौन त्रास, केवल मैं जिसे हरूँगा ?

"हाँ, अगर पाण्डवों की न चली इस रण में,
वे हुए हतप्रभ किसी तरह जीवन में,
राधेय न कुरुपति का सह-जेता होगा,
वह पुनः निःस्व दलितों का नेता होगा।

"है अभी उदय का लग्न, दृश्य सुन्दर है,
सब ओर पाण्डु-पुत्रों की कीर्त्ति प्रखर है।
अनुकूल ज्योति की घड़ी न मेरी होगी,
मैं आऊँगा जब रात अन्धेरी होगी।

"यश, मान, प्रतिष्ठा, मुकुट नहीं लेने को,
आऊँगा कुल को अभयदान देने को।
परिभव, प्रदाह, भ्रम, भय हरने आऊँगा,
दुख में अनुजों को भुज भरने आऊँगा।

भीषण विपत्ति में उन्हें जननि ! अपनाकर,
बाँटने दुःख आऊँगा हृदय लगाकर।
श्रम में नवीन आभा भरने आऊँगा,
किस्मत को फिर ताजा करने आऊँगा।

पर, नहीं, कृष्ण के कर की छाँह जहाँ है,
रक्षिका स्वयं अच्युत की बाँह जहाँ है,
उस भाग्यवान का भाग्य क्षार क्यों होगा ?
सामने किसी दिन अन्धकार क्यों होगा ?

"मैं देख रहा हूँ कुरुक्षेत्र के रण को,
नाचते हुए, मनुजों पर, महामरण को।
शोणित से सारी मही क्लिन्न, लथपथ है,
जा रहा किन्तु, निर्बाध पार्थ का रथ है।

"हैं काट रहे हरि आप तिमिर की कारा,
अर्जुन के हित बह रही उलट कर धारा।
शत पाश व्यर्थ रिपु का दल फैलाता है,
वह जाल तोड़ हर बार निकल जाता है।

"मैं देख रहा हूँ जननि! कि कल क्या होगा?
इस महा समर का अन्तिम फल क्या होगा?
लेकिन, तब भी मन तनिक न घबराता है,
उत्साह और दुगुना बढ़ता जाता है।

"बज चुका काल का पटह, भयानक क्षण है,
दे रहा निमन्त्रण सबको महामरण है।
छाती के पूरे पुरुष प्रलय झेलेंगे,
झञ्झा की उलझी लटें खींच खेलेंगे,

"कुछ भी न बचेगा शेष अन्त में जाकर,
विजयी होगा सन्तुष्ट तत्त्व क्या पाकर?
कौरव विलीन जिस पथ पर हो जायेंगे,
पाण्डव क्या उससे भिन्न राह पायेंगे?

"है एक पन्थ कोई जीते या हारे,
खुद मरे, या कि बढ़कर दुश्मन को मारे।
एक ही देश दोनों को जाना होगा,
बचने का कोई नहीं बहाना होगा।

"निस्सार द्रोह की क्रिया, व्यर्थ यह रण है,
खोखला हमारा और पार्थ का प्रण है।
फिर भी जानें किसलिए न हम रुकते हैं,
चाहता जिधर को काल, उधर झुकते हैं।

"लेकिन, चिन्ता यह वृथा, बात जाने दो,
जैसा भी हो, कल का प्रभात आने दो।
दीखती किसी भी तरफ न उजियाली है,
सत्य ही, आज की रात बड़ी काली है।

"चन्द्रमा - सूर्य तम में जब छिप जाते हैं,
किरणों के अन्वेषी जब अकुलाते हैं,
तब धूमकेतु, बस, इसी तरह आता है,
रोशनी जरा मरघट में फैलाता है।"

हो रहा मौन राधेय चरण को छू कर,
दो विन्दु अश्रु के गिरे दृगों से चू कर।
बेटे का मस्तक सूँघ, बड़े ही दुख से,
कुन्ती लौटी कुछ कहे बिना ही मुख से।

□

षष्ठ सर्ग

गिरि का उदग्र गौरवाधार, गिर जाय शृङ्ग ज्यों महाकार,
अथवा सूना कर आसमान, ज्यों गिरे टूट रवि भासमान,
कौरव-दल कर तेज हरण,
त्यों गिरे भीष्म आलोकवरण।

कुरुकुल का दीपित ताज गिरा, थक कर बूढ़ा जब बाज गिरा,
भूलुठित पितामह को विलोक, छा गया समर में महाशोक।
कुरुपति ही धैर्य न खोता था,
अर्जुन का मन भी रोता था।

रो-धो कर तेज नया दमका, दूसरा सूर्य सिर पर चमका,
कौरवी तेज दुर्जेय उठा, रण करने को राधेय[10] उठा,
सबके रक्षक गुरु आर्य हुए,
सेना-नायक आचार्य हुए।

राधेय, किन्तु, जिनके कारण, था अब तक किये मौन धारण,
उनका शुभ आशिष पाने को, अपना सद्धर्म निभाने को,
वह शर-शय्या की ओर चला,
पग-पग हो विनय-विभोर चला।

---

[10] भीष्म ने कर्ण को 'अर्धरथी' कह दिया था। इस अपमान के विरोध में कर्ण तबतक युद्ध में नहीं गया, जबतक भीष्म लड़ते रहे। दसों दिनों के युद्ध के बाद जब भीष्म गिर गये, तब द्रोणाचार्य के सेनापतित्व में कर्ण का युद्ध प्रारम्भ हुआ।

छू भीष्मदेव के चरण युगल, बोला वाणी राधेय सरल,
हे तात ! आपका प्रोत्साहन, पा सका नहीं जो लाञ्छित जन,
यह वही सामने आया है,
उपहार अश्रु का लाया है।

"आज्ञा हो तो अब धनुष धरूँ, रण में चलकर कुछ काम करूँ,
देखूँ, है कौन प्रलय उतरा, जिससे डगमग हो रही धरा।
कुरुपति को विजय दिलाऊँ मैं,
या स्वयं वीरगति पाऊँ मैं।

"अनुचर के दोष क्षमा करिये, मस्तक पर वरद पाणि धरिये,
आखिरी मिलन की वेला है, मन लगता बड़ा अकेला है।
मद - मोह त्यागने आया हूँ,
पद - धूलि माँगने आया हूँ।"

भीष्म ने खोल निज सजल नयन, देखे कर्ण के आर्द्र लोचन,
बढ़ खींच पास में ला करके, छाती से उसे लगा करके,
बोले—"क्या तत्त्व विशेष बचा ?
बेटा, आँसू ही शेष बचा।

"मैं रहा रोकता ही क्षण - क्षण, पर हाय, हठी यह दुर्योधन,
अंकुश विवेक का सह न सका, मेरे कहने में रह न सका,
क्रोधान्ध, भ्रान्त मद में विभोर,
ले ही आया संग्राम घोर।

"अब कहो, आज क्या होता है ? किसका समाज यह रोता है ?
किसका गौरव, किसका सिंगार, जल रहा पंक्ति के आर - पार ?,
किसका वन - बाग उजड़ता है ?
यह कौन मारता - मरता है ?

"फूटता द्रोह-दव का पावक, हो जाता सकल समाज नरक,
सबका वैभव, सबका सुहाग, जाती डकार यह कुटिल आग।
जब बन्धु विरोधी होते हैं,
सारे कुलवासी रोते हैं।

"इसलिए, पुत्र ! अब भी रुककर, मन में सोचो, यह महासमर,
किस ओर तुम्हें ले जायेगा ? फल अलभ कौन दे पायेगा ?
मानवता ही मिट जायेगी,
फिर विजय सिद्धि क्या लायेगी ?

"ओ मेरे प्रतिद्वन्द्वी मानी ! निश्छल, पवित्र, गुणमय, ज्ञानी !
मेरे मुख से सुन परुष वचन, तुम वृथा मलिन करते थे मन।
मैं नहीं निरा अवशंसी था,
मन - ही - मन बड़ा प्रशंसी था।

"सो भी इसलिए कि दुर्योधन, पा सदा तुम्हीं से आश्वासन,
मुझको न मानकर चलता था, पग - पग पर रूठ मचलता था।
अन्यथा पुत्र ! तुमसे बढ़कर,
मैं किसे मानता वीर प्रवर ?

"पार्थोपम रथी, धनुर्धारी, केशव - समान रणभट भारी,
धर्मज्ञ, धीर, पावन - चरित्र, दीनों - दलितों के विहित मित्र,
अर्जुन को मिले कृष्ण जैसे;
तुम मिले कौरवों को वैसे।

"पर हाय, वीरता का सम्बल, रह जायेगा धनु ही केवल ?
या शान्ति - हेतु शीतल, शुचि श्रम, भी कभी करेंगे वीर परम ?
ज्वाला भी कभी बुझायेंगे ?
या लड़कर ही मर जायेंगे ?

"चल सके सुयोधन पर यदि वश, बेटा ! लो जग में नया सुयश,
लड़ने से बढ़ यह काम करो, आज ही बन्द संग्राम करो।
यदि इसे रोक तुम पाओगे,
जग के त्राता कहलाओगे।

"जा कहो वीर दुर्योधन से, कर दूर द्वेष - विष को मन से,
वह मिले पाण्डवों से जाकर, मरने दे मुझे शान्ति पाकर।
मेरा अन्तिम बलिदान रहे,
सुख से सारी सन्तान रहे।"

"हे पुरुष सिंह !" कर्ण ने कहा, "अब और पन्थ क्या शेष रहा ?
संकटापन्न जीवन - समान, है बीच सिन्धु में महायान ;
इस पार शान्ति, उस पार विजय,
अब क्या हो भला नया निश्चय ?

"जय मिले बिना विश्राम नहीं, इस समय सन्धि का नाम नहीं,
आशिष दीजिये, विजय कर रण, फिर देख सकूँ ये भव्य चरण ;
जलयान सिन्धु से तार सकूँ ;
सबको मैं पार उतार सकूँ।

"कल तक था पथ शान्ति का सुगम, पर, हुआ आज वह अति दुर्गम,
अब उसे देख ललचाना क्या ? पीछे को पाँव हटाना क्या ?
जय को कर लक्ष्य चलेंगे हम,
अरि - दल का गर्व दलेंगे हम।

"हे महाभाग, कुछ दिन जीकर, देखिये और यह महासमर,
मुझको भी प्रलय मचाना है, कुछ खेल नया दिखलाना है ;
इस दम तो मुख मोड़िये नहीं ;
मेरी हिम्मत तोड़िये नहीं।

रते दीजिये स्वव्रत पालन, अपने महान् प्रतिभट से रण,
र्जन का शीश उड़ाना है, कुरुपति का हृदय जुड़ाना है।
करने को पिता! अमर मुझको,
है बुला रहा सङ्गर मुझको।"

ांगेय निराशा में भर कर, बोले—"तब हे नरवीर प्रवर!
ो भला लगे, वह काम करो, जाओ, रण में लड़ नाम करो।
भगवान् शमित विष तूर्ण करें;
अपनी इच्छाएं पूर्ण करें।"

भीष्म का चरण-वन्दन करके,
ऊपर सूर्य को नमन करके,
देवता वज्र-धनुधारी-सा,
केसरी अभय मगचारी-सा,
राधेय समर की ओर चला,
करता गर्जन घनघोर चला,

ाकर प्रसन्न आलोक नया, कौरव-सेना का शोक गया,
ाशा की नवल तरङ्ग उठी, जन-जन में नयी उमङ्ग उठी,
मानो, बाणों का छोड़ शयन,
आ गये स्वयं गङ्गानन्दन।

ेना समग्र हुङ्कार उठी, 'जय-जय राधेय!' पुकार उठी,
उल्लास मुक्त हो छहर उठा, रण-जलधि घोष में घहर उठा,
बज उठी समर-भेरी भीषण,
हो गया शुरू संग्राम गहन।

सागर-सा गर्जित, क्षुभित घोर, विकराल दण्डधर-सा कठोर,
अरिदल पर कुपित कर्ण टूटा, धनु पर चढ़ महामरण छूटा।
ऐसी पहली ही आग चली,
पाण्डव की सेना भाग चली।

झंझा की घोर झकोर चली, डालों को तोड़-मरोड़ चली,
पेड़ों की जड़ टूटने लगी, हिम्मत सब की छूटने लगी,
ऐसा प्रचण्ड तूफान उठा,
पर्वत का भी हिल प्राण उठा।

प्लावन का पा दुर्जय प्रहार, जिस तरह काँपती है कगार,
या चक्रवात में यथा कीर्ण, उड़ने लगते पत्ते विशीर्ण,
त्यों उठा काँप थर-थर अरिदल,
मच गयी बड़ी भीषण हलचल।

सब रथी व्यग्र बिललाते थे, कोलाहल रोक न पाते थे।
सेना को यों बेहाल देख, सामने उपस्थित काल देख,
गरजे अधीर हो मधुसूदन,
बोले पार्थ से निगूढ़ वचन।

"दे अचिर सैन्य को अभयदान, अर्जुन! अर्जुन! हो सावधान,
तू नहीं जानता है यह क्या, करता न शत्रु पर कर्ण दया?
दाहक प्रचण्ड इसका बल है,
यह मनुज नहीं, कालानल है।

"बड़वानल, यम या कालपवन, करते जब कभी कोप भीषण,
सारा सर्वस्व न लेते हैं, उच्छिष्ट छोड़ कुछ देते हैं।
पर, इसे क्रोध जब आता है;
कुछ भी न शेष रह पाता है।

"यह महामत्त मानव-कुञ्जर, कैसे अशङ्क हो रहा विचर,
कर को जिस ओर बढ़ाता है, पथ उधर स्वयं बन जाता है।
तू नहीं शरासन तानेगा,
अंकुश किसका यह मानेगा ?

"अर्जुन ! विलम्ब पातक होगा, शैथिल्य प्राण-घातक होगा,
उठ जाग वीर ! मूढ़ता छोड़, धर धनुष-बाण अपना कठोर।
तू नहीं जोश में आयेगा,
आज ही समर चुक जायेगा।"

केशव का सिंह दहाड़ उठा, मानों चिग्घार पहाड़ उठा,
बाणों की फिर लग गयी झड़ी, भागती फौज हो गयी खड़ी।
जूझने लगे कौन्तेय-कर्ण,
ज्यों लड़ें परस्पर दो सुपर्ण।

एक ही वृन्त के दो कुड्मल, एक ही कुक्षि के दो कुमार,
एक ही वंश के दो भूषण, विभ्राट, वीर, पर्वताकार।
बेधने परस्पर लगे सहज-सोदर शरीर में प्रखर बाण,
दोनों की किंशुक देह हुई, दोनों के पावक हुए प्राण।

अन्धड़ बन कर उन्माद उठा, दोनों दिशि जयजयकार हुई :
दोनों पक्षों के वीरों पर, मानो, भैरवी सवार हुई।
कट-कट कर गिरने लगे क्षिप्र, रुण्डों से मुण्ड अलग होकर,
बह चली मनुज के शोणित की धारा पशुओं के पग धोकर।

लेकिन, था कौन, हृदय जिसका, कुछ भी यह देख दहलता था ?
था कौन, नरों की लाशों पर, जो नहीं पाँव धर चलता था ?
है कथा, द्रोण की छाया में यों पाँच दिनों तक युद्ध चला,
क्या कहें, धर्म पर कौन रहा, या उसके कौन विरुद्ध चला ?

था किया भीष्म पर पाण्डव ने, जैसे छल-छद्मों से प्रहार,
कुछ उसी तरह निष्ठुरता से हत हुआ वीर अर्जन-कुमार!
फिर भी, भावुक कुरुवृद्ध भीष्म, थे युग पक्षों के लिए शरण,
कहते हैं, होकर विकल, मृत्यु का किया उन्होंने स्वयं वरण।

अर्जन-कुमार की कथा, किन्तु अब तक भी हृदय हिलाती है,
सभ्यता नाम लेकर उसका अब भी रोती, पछताती है।
पर, हाय, युद्ध अन्तक-स्वरूप, अन्तक-सा ही दारुण कठोर,
देखता नहीं ज्यायान्-युवा, देखता नहीं बालक-किशोर।

सुत के वध की सुन कथा पार्थ का, दहक उठा शोकार्त्त हृदय,
फिर किया क्रुद्ध होकर उसने, तब महा लोम-हर्षक निश्चय,
'कल अस्तकाल के पूर्व जयद्रथ को न मार यदि पाऊँ मैं,
सौगन्ध धर्म की मुझे, आग में स्वयं कूद जल जाऊँ मैं।'

तब कहते हैं अर्जुन के हित, हो गया प्रकृति-क्रम विपर्यस्त,
माया की सहसा शाम हुई, असमय दिनेश हो गये अस्त।
ज्यों-त्यों करके इस भाँति वीर अर्जुन का वह प्रण पूर्ण हुआ,
सिर कटा जयद्रथ का, मस्तक निर्दोष पिता का चूर्ण हुआ।

हाँ, यह भी हुआ कि सात्यकि से, जब निपट रहा था भूरिश्रवा,
पार्थ ने काट ली, अनाहूत, शर से उसकी दाहिनी भुजा।
औ' भूरिश्रवा अनशन करके, जब बैठ गया लेकर मुनि-व्रत,
सात्यकि ने मस्तक काट लिया, जब था वह निश्चल योग-निरत।

है वृथा धर्म का किसी समय, करना विग्रह के साथ ग्रथन,
करुणा से कढ़ता धर्म विमल, है मलिन पुत्र हिंसा का रण।
जीवन के परम ध्येय—सुख—को सारा समाज अपनाता है,
देखना यही है, कौन वहाँ तक किस प्रकार से जाता है?

है धर्म पहुँचना नहीं ; धर्म तो जीवन भर चलने में है।
फैला कर पथ पर स्निग्ध ज्योति दीपक समान जलने में है !
यदि कहें विजय, तो विजय प्राप्त हो जाती परतापी को भी,
सत्य ही, पुत्र, दारा, धन, जन ; मिल जाते हैं पापी को भी।

इसलिए, ध्येय में नहीं, धर्म तो सदा निहित, साधन में है,
वह नहीं किसी भी प्रधन - कर्म, हिंसा, विग्रह या रण में है।
तब भी जो नर चाहते, धर्म, समझे मनुष्य संहारों को,
गूँथना चाहते वे, फूलों के साथ तप्त अंगारों को।

वासना - वह्नि से जो निकला, कैसे हो वह संयुग कोमल ?
देखने हमें देगा वह क्यों, करुणा का पन्थ सुगम शीतल ?
जव लोभ सिद्धि का आँखों पर, माँड़ी बन कर छा जाता है,
तब वह मनुष्य से बड़े - बड़े दुश्चिन्त्य कृत्य करवाता है।

फिर क्या विस्मय, कौरव - पाण्डव भी नहीं धर्म के साथ रहे ?
जो रंग युद्ध का है, उससे, उनके भी अलग न हाथ रहे।
दोनों ने कालिख छुई शीश पर, जय का तिलक लगाने को,
सत्पथ से दोनों डिगे, दौड़कर, विजय - विन्दु तक जाने को।

इस विजय-द्वन्द्व के बीच युद्ध के दाहक कई दिवस बीते ;
पर, विजय किसे मिल सकती थी, जबतक थे द्रोण -कर्ण जीते ?
था कौन सत्य - पथ पर डटकर, जो उनसे योग्य समर करता ?
धर्म से मार कर उन्हें जगत् में, अपना नाम अमर करता ?

"है कहाँ पार्थ ? है कहाँ पार्थ ?" राधेय गरजता था क्षण-क्षण।
"करता क्यों नहीं प्रकट होकर, अपने कराल प्रतिभट से रण ?
क्या इन्हीं मूलियों से मेरी रणकला निपट रह जायेगी ?
या किसी वीर पर भी अपना, वह चमत्कार दिखलायेगी ?

'हो छिपी जहाँ भी पार्थ, सुने, अब हाथ समेटे लेता हूँ,
सबके समक्ष द्वैरथ-रण की, मैं उसे चुनौती देता हूँ।
हिम्मत हो तो वह बढ़े, व्यूह से निकल जरा सम्मुख आये,
दे मुझे जन्म का लाभ और साहस हो तो खुद भी पाये।"

पर, चतुर पार्थ - सारथी आज, रथ अलग नचाये फिरते थे,
कर्ण के साथ द्वैरथ - रण से, शिष्य को बचाये फिरते थे।
चिन्ता थी, एकघ्नी कराल, यदि द्विरथ - युद्ध में छूटेगी,
पार्थ का निधन होगा, किस्मत, पाण्डव - समाज की फूटेगी।

नटनागर ने इसलिए, युक्ति का नया योग सन्धान किया,
एकघ्निहव्य के लिए घटोत्कच का हरि ने आह्वान किया।
बोले, "बेटा ! क्या देख रहा ? हाथ से विजय जाने पर है,
अब सबका भाग्य एक तेरे कुछ करतब दिखलाने पर है।

"यह देख, कर्ण की विशिख - वृष्टि कैसी कराल झड़ लाती है ?
गो के समान पाण्डव - सेना भय - विकल भागती जाती है।
तिल भर भी भूमि न कहीं खड़े हों जहाँ लोग सुस्थिर क्षण - भर,
सारी रण - भू पर बरस रहे एक ही कर्ण के बाण प्रखर।

"यदि इसी भाँति सब लोग मृत्यु के घाट उतरते जायेंगे,
कल प्रात कौन सेना लेकर पाण्डव सङ्गर में आयेंगे ?
है बड़ी विपद् की घड़ी, कर्ण का निर्भय, गाढ़, प्रहार रोक।
बेटा ! जैसे भी बने, पाण्डवी सेना का संहार रोक।"

फूटे ज्यों वह्निमुखी पर्वत, ज्यों उठे सिन्धु में प्रलय - ज्वार,
कूदा रण में त्यों महाघोर गर्जन कर दानव किमाकार।
सत्य ही, असुर के आते ही रण का वह क्रम टूटने लगा,
कौरवी अनी भयभीत हुई; धीरज उसका छूटने लगा।

है कथा, दानवों के कर में थे बहुत-बहुत साधन कठोर,
कुछ ऐसे भी, जिनपर, मनुष्य का चल पाता था नहीं जोर।
उन अगम साधनों के मारे कौरव सेना चिग्घार उठी,
ले नाम कर्ण का बार-बार, व्याकुल कर हाहाकार उठी।

लेकिन, अजस्र-शर-वृष्टि-निरत, अनवरत-युद्ध-रत, धीर कर्ण,
मन-ही-मन था हो रहा स्वयं, इस रण से कुछ विस्मित, विवर्ण।
बाणों से तिल-भर भी अबिद्ध, था कहीं नहीं दानव का तन;
पर, हुआ जा रहा था वह पशु, पल-पल कुछ और अधिक भीषण।

जब किसी तरह भी नहीं रुद्ध, हो सकी महादानव की गति,
सारी सेना को विकल देख, बोला कर्ण से स्वयं कुरुपति,
"क्या देख रहे हो सखे! दस्यु ऐसे क्या कभी मरेगा यह?
दो घड़ी और जो देर हुई, सबका संहार करेगा यह।

"हे वीर! विलपते हुए सैन्य का, अचिर किसी विधि त्राण करो।
अब नहीं अन्य गति; आँख मूँद, एकघ्नी का सन्धान करो।
अरि का मस्तक है दूर, अभी अपनों के सीस बचाओ तो,
जो मरण-पाश है पड़ा, प्रथम, उसमें से हमें छुड़ाओ तो।"

सुन सहम उठा राधेय, मित्र की ओर फेर निज चकित नयन,
झुक गया विवशता में कुरुपति का अपराधी, कातर आनन।
मन-ही-मन बोला कर्ण, "पार्थ! तू वय का बड़ा बेली निकला,
या यह कि आज फिर एक बार, मेरा ही भाग्य छली निकला।"

रहता आया था मुदित कर्ण जिसका अजेय सम्बल लेकर,
था किया प्राप्त जिसको उसने, इन्द्र को कवच-कुण्डल देकर,
जिसकी करालता में जय का, विश्वास अभय हो पलता था,
केवल अर्जुन के लिए जिसे, राधेय जुगाये चलता था;

वह काल-सर्पिणी की जिह्वा, वह अटल मृत्यु की सगी स्वसा,
घातकता की वाहिनी, शक्ति यम की प्रचण्ड, वह अनल-रसा,
लपलपा आग-सी एकघ्नी तूणीर छोड़ बाहर आयी,
चाँदनी मन्द पड़ गयी, समर में दाहक उज्ज्वलता छायी।

कर्ण ने भाग्य को ठोंक उसे, आखिर दानव पर छोड़ दिया,
विह्वल हो कुरुपति को विलोक, फिर किसी ओर मुख मोड़ लिया।
उस असुर-प्राण को वेध, दृष्टि सबकी क्षण भर त्रासित करके,
एकघ्नी ऊपर लीन हुई, अम्बर को उद्भासित करके।

पा धमक, धरा धँस उछल पड़ी, ज्यों गिरा दस्यु पर्वताकार,
"हा! हा!" की चारों ओर मची, पाण्डव-दल में व्याकुल पुकार।
नरवीर युधिष्ठिर, नकुल, भीम, रह सके कहीं कोई न धीर,
जो जहाँ खड़े थे, लगे वहीं करने कातर क्रन्दन गभीर।

सारी सेना थी चीख रही, सब लोग व्यग्र बिलखाते थे;
पर बड़ी विलक्षण बात! हँसी नटनागर रोक न पाते थे।
टल गयी विपद् कोई सिर से, या मिली कहीं मन-ही-मन जय,
क्या हुई बात? क्या, देख हुए केशव इस तरह विगत-संशय?

लेकिन समर को जीत कर,
निज वाहिनी को प्रीत कर,
वलयित गहन गुञ्जार से,
पूजित परम जयकार से,

राधेय सङ्गर से चला, मन में कहीं खोया हुआ,
जय-घोष की झङ्कार से आगे कहीं सोया हुआ।

हारी हुई पाण्डव-चमू में हंस रहे भगवान् थे,
पर जीत कर भी कर्ण के हारे हुए-से प्राण थे।

क्या, सत्य ही, जय के लिए केवल नहीं बल चाहिये?
कुछ बुद्धि का भी घात; कुछ छल-छद्म-कौशल चाहिये?

क्या भाग्य का आघात है!
कैसी अनोखी बात है?

मोती छिपे आते किसी के आँसुओं के तार में,
हंसता कहीं अभिशाप ही आनन्द के उच्चार में।

मगर, यह कर्ण की जीवन-कथा है,
नियति का, भाग्य का इङ्गित वृथा है।

मुसीबत को नहीं जो झेल सकता,
निराशा से नहीं जो खेल सकता,

पुरुष क्या, शृङ्खला को तोड़ करके,
चले आगे नहीं जो ज़ोर करके?

□

सप्तम सर्ग[1]

रथ सजा, भेरियाँ घमक उठीं, गहगहा उठा अम्बर विशाल,
कूदा स्यन्दन पर गरज कर्ण ज्यों उठे गरज क्रोधान्ध काल।
बज उठे रोर कर पटह - कम्बु, उल्लसित वीर कर उठे हूह,
उच्छल सागर - सा चला कर्ण को लिये क्षुब्ध सैनिक समूह।

अङ्गार - वृष्टि पा धधक उठें जिस तरह शुष्क कानन का तृण,
सकता न रोक शस्त्री की गति पुञ्जित जैसे नवनीत मसृण,
यम के समक्ष जिस तरह नहीं चल पाता बद्ध मनुज का वश,
हो गयी पाण्डवों की सेना त्योंही बाणों से विद्ध, विवश।

भागने लगे नरवीर छोड़ वह दिशा जिधर भी झुका कर्ण,
भागें जिस तरह लवा का दल सामने देख रोषण सुपर्ण।
'रण में क्यों आये आज ?' लोग मन - ही - मन में पछताते थे,
दूर से देख कर भी उसको, भय से सहमे सब जाते थे।

काटता हुआ रण - विपिन क्षुब्ध, राधेय गरजता था क्षण - क्षण।
सुन - सुन निनाद की घमक शत्रु का, व्यूह लरजता था क्षण - क्षण।
अरि की सेना को विकल देख, बढ़ चला और कुछ समुत्साह;
कुछ और समुद्वेलित होकर, उमड़ा भुज का सागर अथाह।

---

[1] घटोत्कच - वध के बाद द्रोणाचार्य का निधन हुआ और उसके बाद, कौरवपक्ष का सेनापति कर्ण बनाया गया। प्रस्तुत सर्ग में कर्ण के अन्तिम युद्ध और उसके बलिदान का वर्णन है।

गरजा अशङ्क हो कर्ण, "शल्य ! देखो कि आज क्या करता हूँ,
कौन्तेय-कृष्ण, दोनों को ही, जीवित किस तरह पकड़ता हूँ।
बस, आज शाम तक यहीं सुयोधन का जय-तिलक सजा करके,
लौटेंगे हम, दुन्दुभि अवश्य जय की, रण-बीच बजा करके।

इतने में, कुटिल नियति-प्रेरित पड़ गये सामने धर्मराज,
टूटा कृतान्त-सा कर्ण, कोक पर पड़े टूट जिस तरह बाज।
लेकिन, दोनों का विषम युद्ध, क्षण भर भी नहीं ठहर पाया,
सह सकी न गहरी चोट, युधिष्ठिर की मुनि-कल्प, मृदुल काया।

भागे वे रण को छोड़, कर्ण ने झपट दौड़कर गहा ग्रीव,
कौतुक से बोला, "महाराज ! तुम तो निकले कोमल अतीव।
हाँ, भीरु नहीं, कोमल कहकर ही, जान बचाये देता हूँ।
आगे की खातिर एक युक्ति भी सरल बताये देता हूँ।

"हैं विप्र आप, सेविये धर्म, तरु-तले कहीं, निर्जन वन में,
क्या काम साधुओं का, कहिये इस महाघोर, घातक रण में ?
मत कभी क्षात्रता के धोखे, रण का प्रदाह झेला करिये,
जाइये, नहीं फिर कभी गरुड़ की झपटों से खेला करिये।"

भागे विपन्न हो समर छोड़ ग्लानि में निमज्जित धर्मराज,
सोचते, 'कहेगा क्या मन में जानें, यह शूरों का समाज ?
प्राण ही हरण करके रहने क्यों नहीं हमारा मान दिया ?
आमरण ग्लानि सहने को ही पापी ने जीवन-दान दिया।"

समझे न हाय, कौन्तेय ! कर्ण ने छोड़ दिये किसलिए प्राण,
गरदन पर आकर लौट गयी सहसा, क्यों विजयी की कृपाण ?
लेकिन, अदृश्य ने लिखा, कर्ण ने वचन धर्म का पाल दिया,
खड्ग का छीन कर ग्रास, उसे माँ के अञ्चल में डाल दिया।

कितना पवित्र यह शील ! कर्ण जब तक भी रहा खड़ा रण में,
चेतनामयी माँ की प्रतिमा घूमती रही तब तक मन में।
सहदेव, युधिष्ठिर, नकुल, भीम को बार-बार बस में लाकर,
कर दिया मुक्त हंस कर उसने भीतर से कुछ इङ्गित पाकर।

देखता रहा सब शल्य, किन्तु, जब इसी तरह भागे पवितन,
बोला, होकर वह चकित, कर्ण की ओर देख, यह परुष वचन,
"रे सूतपुत्र ! किसलिए विकट यह कालपृष्ठ धनु धरता है?
मारना नहीं है तो फिर क्यों, वीरों को घेर पकड़ता है?

"संग्राम विजय तू इसी तरह सन्ध्या तक आज करेगा क्या?
मारेगा अरियों को कि उन्हें दे जीवन स्वयं मरेगा क्या?
रण का विचित्र यह खेल, मुझे तो समझ नहीं कुछ पड़ता है,
कायर ! अवश्य कर याद पार्थ की, तू मन ही मन डरता है।"

हंसकर बोला राधेय, "शल्य, पार्थ की भीति उसको होगी,
क्षयमान्, क्षणिक, भंगुर शरीर पर मृषा प्रीति जिसको होगी।
इस चार दिनों के जीवन को, मैं तो कुछ नहीं समझता हूँ,
करता हूँ वही, सदा जिसको भीतर से सही समझता हूँ।

"पर ग्रास छीन अतिशय बुभुक्षु, अपने इन बाणों के मुख से,
होकर प्रसन्न हंस देता हूँ, चञ्चल किस अन्तर के सुख से;
यह कथा नहीं अन्तःपुर की, बाहर मुख से कहने की है,
यह व्यथा धर्म के वर-समान, सुख-सहित, मौन सहने की है।

"सब आँख मूंद कर लड़ते हैं, जय इसी लोक में पाने को,
पर, कर्ण जूझता है कोई, ऊंचा सद्धर्म निभाने को।
सबके समेत पङ्किल सर में, मेरे भी चरण पड़ेंगे क्या?
ये लोभ मृत्तिकामय जग के, आत्मा का तेज हरेंगे क्या?

"यह देह टूटनेवाली है, इस मिट्टी का कब तक प्रमाण ?
मृत्तिका छोड़ ऊपर नभ में भी तो ले जाना है विमान।
कुछ जुटा रहा सामान खमण्डल में सोपान बनाने को,
ये चार फूल फेंके मैंने, ऊपर की राह सजाने को।

"ये चार फूल हैं मोल किन्हीं कातर नयनों के पानी के,
ये चार फूल प्रच्छन्न दान हैं किसी महाबल दानी के।
ये चार फूल, मेरा अदृष्ट था हुआ कभी जिनका कामी,
ये चार फूल पाकर प्रसन्न हंसते होंगे अन्तर्यामी।

"समझोगे नहीं शल्य इसको, यह करतब नादानों का है,
यह खेल जीत से बड़े किसी, मकसद के दीवानों का है।
जानते स्वाद इसका वे ही, जो सुरा स्वप्न की पीते हैं,
दुनिया में रहकर भी दुनिया से अलग खड़े जो जीते हैं।"

समझा न, सत्य ही शल्य इसे, बोला—"प्रलाप यह बन्द करो,
हिम्मत हो तो लो करो समर, बल हो, तो अपना धनुष धरो।
लो, वह देखो, वानरी ध्वजा दूर से दिखायी पड़ती है,
पार्थ के महारथ की घर्घर आवाज सुनायी पड़ती है।

"क्या वेगवान हैं अश्व! देख विद्युत् शरमायी जाती है,
आगे सेना छंट रही, घटा पीछे से छायी जाती है।
राधेय! काल यह पहुँच गया, शायक सन्धानित तूर्ण करो,
थे विकल सदा जिसके हित, वह लालसा समर की पूर्ण करो।"

पार्थ को देख उच्छल - उमङ्ग - पूरित उर - पारावार हुआ,
दम्भोलि - नाद कर कर्ण कुपित अन्तक - सा भीमाकार हुआ।
बोला, "विधि ने जिस हेतु पार्थ! हम दोनों का निर्माण किया,
जिस लिए प्रकृति के अनल - तत्त्व का हम दोनों ने पान किया।

"जिस दिन के लिए किये आये, हम दोनों वीर अथक साधन,
आ गया भाग्य से आज जन्म-जन्मों का निर्धारित वह क्षण।
आओ, हम दोनों विशिख-वह्नि-पूजित हो जयजयकार करें,
मर्मच्छेदन से एक दूसरे का जी-भर सत्कार करें।

"पर, सावधान, इस मिलन-विन्दु से अलग नहीं होना होगा,
हम दोनों में से किसी एक को आज यहीं सोना होगा।
हो गया बड़ा अतिकाल, आज निर्णय अन्तिम कर लेना है,
शत्रु का या कि अपना मस्तक, काट कर यहीं धर देना है।"

कर्ण का देख यह दर्प पार्थ का, दहक उठा रविकान्त-हृदय,
बोला, "रे सारथि-पुत्र! किया तू ने, सत्य ही योग्य निश्चय।
पर कौन रहेगा यहाँ? बात यह अभी बताये देता हूँ,
धड़ पर से तेरा सीस मूढ़! ले, अभी हटाये देता हूँ।"

यह कह अर्जुन ने तान कान तक, धनुष-बाण सन्धान किया,
अपने जानते विपक्षी को, हत ही उसने अनुमान किया।
पर, कर्ण झेल वह महा विशिख, कर उठा काल-सा अट्टहास,
रण के सारे स्वर डूब गये, छा गया निनद से दिशाकाश।

बोला, "शाबाश, वीर अर्जुन! यह खूब गहन सत्कार रहा;
पर, बुरा न मानो, अगर आन कर मुझ पर वह बेकार रहा।
मत कवच और कुण्डल विहीन, इस तन को मृदुल कमल समझो,
साधना-दीप्त वक्षस्थल को, अब भी दुर्भेद्य अचल समझो।

"अब लो मेरा उपहार, यही यमलोक तुम्हें पहुँचायेगा,
जीवन का सारा स्वाद तुम्हें बस, इसी बार मिल जायेगा।"
कह इस प्रकार राधेय अधर को दबा, रौद्रता में भरके,
हुङ्कार उठा घातिका शक्ति विकराल शरासन पर धरके।

संभलें जब तक भगवान्, नचायें इधर-उधर किञ्चित स्यन्दन;
तब तक रथ में ही, विकल, विद्ध, मूच्छित हो गिरा पृथानन्दन।
कर्ण का देख यह समर-शौर्य सङ्गर में हाहाकार हुआ,
सब लगे पूछने, "अरे पार्थ का क्या सचमुच संहार हुआ?"

पर नहीं, मरण का तट छूकर, हो उठा अचिर अर्जुन प्रबुद्ध;
क्रोधान्ध गरज कर लगा कर्ण के साथ मचाने द्विरथ-युद्ध।
प्रावृट-से गरज-गरज दोनों, करते थे प्रतिभट पर प्रहार,
थी तुला-मध्य सन्तुलित खड़ी, लेकिन, दोनों की जीत हार।

इस ओर कर्ण मार्त्तण्ड-सदृश, उस ओर पार्थ अन्तक-समान,
रण के मिस, मानो, स्वयं प्रलय, हो उठा समर में मूर्त्तिमान।
जूझना एक क्षण छोड़, स्वतः, सारी सेना विस्मय-विमुग्ध,
अपलक होकर देखने लगी दो शितिकण्ठों का विकट युद्ध।

है कथा, नयन का लोभ नहीं, संवृत कर सके स्वयं सुरगण,
भर गया विमानों से तिल-तिल, कुरुभू पर कलकल-नदितगगन।
थी रुकी दिशा की साँस, प्रकृति के निखिल रूप तन्मय-गभीर,
ऊपर स्तम्भित दिनमणि का रथ, नीचे नदियों का अचल नीर।

इतने में शर के लिए कर्ण ने देखा जो अपना निषङ्ग,
तरकस में से फुङ्कार उठा, कोई प्रचण्ड विषधर भुजङ्ग,
कहता कि "कर्ण! मैं अश्वसेन[1] विश्रुत भुजगों का स्वामी हूँ,
जन्म से पार्थ का शत्रु परम, तेरा बहुविधि हितकामी हूँ।

[1] अर्जुन ने जब खाण्डव-वन को जलाया, तब अश्वसेन नामक सर्प की माता बेटे को निगल कर आकाश में उड़ गयी; मगर, अर्जुन ने उसका मस्तक बाण से काट डाला। सर्पिणी तो मर गयी, लेकिन, अश्वसेन बचकर भाग गया। उसी वैर का बदला लेने के लिए वह कुरुक्षेत्र की रण-भूमि में आया था।

"बस, एक बार कर कृपा धनुष पर चढ़ शरव्य तक जाने दे,
इस महाशत्रु को अभी तुरत स्यन्दन में मुझे सुलाने दे।
कर वमन गरल जीवन भर का सञ्चित प्रतिशोध उतारूंगा,
तू मुझे सहारा दे, बढ़कर मैं अभी पार्थ को मारूंगा।"

राधेय जरा हँसकर बोला, "रे कुटिल ! बात क्या कहता है ?
जय का समस्त साधन नर का अपनी बाँहों में रहता है।
उस पर भी साँपों से मिलकर मैं मनुज, मनुज से युद्ध करूं ?
जीवन भर जो निष्ठा पाली, उससे आचरण विरुद्ध करूं ?

"तेरी सहायता से जय तो मैं अनायास पा जाऊंगा,
आनेवाली मानवता को, लेकिन, क्या मुख दिखलाऊंगा ?
संसार कहेगा, जीवन का सब सुकृत कर्ण ने क्षार किया ;
प्रतिभट के वध के लिए सर्प का पापी ने साहाय्य लिया।

"रे अश्वसेन ! तेरे अनेक वंशज हैं छिपे नरों में भी,
सीमित वन में ही नहीं, बहुत बसते पुर - ग्राम - घरों में भी।
ये नर - भुजङ्ग मानवता का पथ कठिन बहुत कर देते हैं,
प्रतिबल के वध के लिए नीच साहाय्य सर्प का लेते हैं।

"ऐसा न हो कि इन साँपों में मेरा भी उज्ज्वल नाम चढ़े।
पाकर मेरा आदर्श और कुछ नरता का यह पाप बढ़े।
अर्जुन है मेरा शत्रु, किन्तु, वह सर्प नहीं, नर ही तो है,
सङ्घर्ष सनातन नहीं, शत्रुता इस जीवन भर ही तो है।

"अगला जीवन किसलिए भला, तब हो द्वेषान्ध बिगाड़ूँ मैं ?
साँपों की जाकर शरण सर्प बन क्यों मनुष्य को मारूँ मैं ?
जा भाग, मनुज का सहज शत्रु, मित्रता न मेरी पा सकता,
मैं किसी हेतु भी यह कलङ्क, अपने पर नहीं लगा सकता।"

काकोदर को कर विदा कर्ण फिर बढ़ा समर में गर्जमान,
अम्बर अनन्त झङ्कार उठा, हिल उठे निर्जरों के विमान।
तूफान उठाये चला कर्ण बल से धकेल अरि के दल को,
जैसे प्लावन की धार बहाये चले सामने के जल को।

पाण्डव - सेना भयभीत भागती हुई जिधर भी जाती थी ;
अपने पीछे दौड़ते हुए वह आज कर्ण को पाती थी।
रह गयी किसी के भी मन में जय की किञ्चित भी नहीं आस,
आखिर, बोले भगवान् सभी को देख व्यग्र, व्याकुल, हताश।

"अर्जुन ! देखो, किस तरह कर्ण सारी सेना पर टूट रहा,
किस तरह पाण्डवों का पौरुष होकर अशङ्क वह लूट रहा।
देखो जिस तरफ, उधर उसके ही बाण दिखायी पड़ते हैं,
बस, जिधर सुनो, केवल उसके हुङ्कार सुनायी पड़ते हैं।

"कैसी करालता ! क्या लाघव ! कितना पौरुष ! कैसे प्रहार !
किस गौरव से वह वीर द्विरद कर रहा समर - वन में विहार !
व्यूहों पर व्यूह फटे जाते, संग्राम उजड़ता जाता है,
ऐसी तो नहीं कमल वन में भी कुञ्जर धूम मचाता है।

"इस पुरुष - सिंह का समर देख मेरे तो हुए निहाल नयन,
कुछ बुरा न मानो, कहता हूँ, मैं आज एक चिर - गूढ़ वचन।
कर्ण के साथ तेरा बल भी मैं खूब जानता आया हूँ,
मन - ही - मन तुझ से बड़ा वीर, पर इसे मानता आया हूँ।

"औ' देख चरम वीरता आज तो यही सोचता हूँ मन में,
है भी कोई, जो जीत सके इस अतुल धनुर्धर को रण में ?
मैं चक्र सुदर्शन धरूँ और गाण्डीव अगर तू तानेगा,
तब भी, शायद ही, आज कर्ण आतङ्क हमारा मानेगा।

"यह नहीं देह का बल केवल, अन्तर्नभ के भी विवस्वान्,
हैं किये हुए मिलकर इसको इतना प्रचण्ड जाज्वल्यमान।
सामान्य पुरुष यह नहीं, वीर यह तपोनिष्ठ व्रतधारी है;
मृत्तिका - पुञ्ज यह मनुज ज्योतियों के जग का अधिकारी है।

"कर रहा काल - सा घोर समर, जय का अनन्त विश्वास लिये,
है घूम रहा निर्भय, जानें, भीतर क्या दिव्य प्रकाश लिये!
जब भी देखो, तब आँख गड़ी सामने किसी अरिजन पर है,
भूल ही गया है एक शीश इसके अपने भी तन पर है।

"अर्जुन! तुम भी अपने समस्त विक्रम - बल का आह्वान करो,
अर्जित असंख्य विद्याओं का हो सजग हृदय में ध्यान करो।
जो भी हो तुममें तेज, चरम पर उसे खींच लाना होगा,
तैयार रहो, कुछ चमत्कार तुमको भी दिखलाना होगा।"

दिनमणि पश्चिम की ओर ढले देखते हुए संग्राम घोर,
गरजा सहसा राधेय, न जानें, किस प्रचण्ड सुख में विभोर।
"सामने प्रकट हो प्रलय! फाड़ तुझको मैं राह बनाऊंगा,
जाना है तो तेरे भीतर संहार मचाता जाऊंगा।

'क्या धमकाता है काल? अरे, आ जा, मुट्ठी में बन्द करूं,
छुट्टी पाऊं, तुझको समाप्त कर दूं, निज को स्वच्छन्द करूं।
ओ शल्य! हयों को तेज करो, ले चलो उड़ाकर शीघ्र वहां,
गोविन्द - पार्थ के साथ डटे हों चुनकर सारे वीर जहां।

"हो शस्त्रों का झन - झन - निनाद, दन्तावल हों चिंग्घार रहे,
रण को कराल घोषित करके हों समरशूर हुङ्कार रहे।
कटते हों अगणित रुण्ड - मुण्ड, उठता हो आर्त्तनाद क्षण - क्षण,
झनझनी रही हों तलवारें; उड़ते हों तिग्म विशिख सन - सन।

"संहार देह धर खड़ा जहाँ अपनी पैंजनी बजाता हो,
भीषण गर्जन में जहाँ रोर ताण्डव का डूबा जाता हो।
ले चलो, जहाँ फट रहा व्योम, मच रहा जहाँ पर घमासान,
साकार ध्वंस के बीच पैठ छोड़ना मुझे है आज प्राण।"

समझ में शल्य की कुछ भी न आया,
हयों को जोर से उसने भगाया।
निकट भगवान् के रथ आन पहुँचा,
अगम, अज्ञात का पथ आन पहुँचा?

अगम की राह पर, सचमुच, अगम है,
अनोखा ही नियति का कार्यक्रम है।
न जानें, न्याय भी पहचानती है,
कुटिलता ही कि केवल जानती है?

रहा दीपित सदा शुभ धर्म जिसका,
चमकता सूर्य-सा था कर्म जिसका,
अबाधित दान का आधार था जो,
धरित्री का अतुल श‍ृङ्गार था जो,

क्षुधा जागी उसी की हाय, भू को,
कहें क्या मेदिनी मानव-प्रसू को?
रुधिर के पङ्क में रथ को जकड़ कर,
गयी वह बैठ चक्के को पकड़ कर।

लगाया जोर अश्वों ने न थोड़ा,
नहीं लेकिन, मही ने चक्र छोड़ा।
वृथा साधन हुए जब सारथी के,
कहा लाचार हो उसने रथी से।

"पड़ी राधेय ! अद्भुत बात है यह,
किसी दुःशक्ति का ही घात है यह।
जरा-सी कीच में स्यन्दन फँसा है,
मगर, रथ-चक्र कुछ ऐसा धँसा है;

"निकाले से निकलता ही नहीं है,
हमारा जोर चलता ही नहीं है।
जरा तुम भी इसे झकझोर देखो,
लगा अपनी भुजा का जोर देखो।"

हँसा राधेय कर कुछ याद मन में,
कहा, "हाँ, सत्य ही सारे भुवन में,
विलक्षण बात मेरे ही लिए है,
नियति का घात मेरे ही लिए है।

"मगर, है ठीक, किस्मत ही फँसे जब,
धरा ही कर्ण का स्यन्दन ग्रसे जब,
सिवा राधेय के पौरुष प्रबल से,
निकाले कौन उसको बाहुबल से ?"

उछल कर कर्ण स्यन्दन से उतर कर,
फँसे रथ-चक्र को भुज-बीच भर कर,
लगा ऊपर उठाने जोर करके,
कभी सीधा कभी झकझोर करके।

मही डोली, सलिल-आगार डोला,
भुजा के जोर से संसार डोला।
न डोला, किन्तु, जो चक्का फँसा था,
चला वह जा रहा नीचे धँसा था।

विपद् में कर्ण को यों ग्रस्त पा कर,
शरासनहीन, अस्त - व्यस्त पा कर,
जगा कर पार्थ को भगवान् बोले—
"खड़ा है देखता क्या मौन, भोले ?

"शरासन तान; बस, अवसर यही है,
घड़ी फिर और मिलने को नहीं है।
विशिख कोई गले के पार कर दे,
अभी ही शत्रु का संहार कर दे।"

श्रवण कर विश्वगुरु की देशना यह,
विजय के हेतु आतुर एषणा यह,
सहम उट्ठा जरा कुछ पार्थ का मन,
विनय में ही, मगर, बोला अकिञ्चन।

"नरोचित, किन्तु क्या यह कर्म होगा ?
मलिन इससे नहीं क्या धर्म होगा ?"
हँसे केशव, "वृथा हठ ठानता है।
अभी तू धर्म को क्या जानता है ?

"कहूँ जो, पाल उसको, धर्म है यह।
हनन कर शत्रु का, सत्कर्म है यह।
क्रिया को छोड़ चिन्तन में फँसेगा,
उलट कर काल तुझको ही ग्रसेगा।"

भला क्यों पार्थ कालाहार होता ?
वृथा क्यों चिन्तना का भार ढोता ?
सभी दायित्व हरि पर डाल कर के,
मिली जो शिष्टि उसको पाल कर के,

लगा राधेय को शर मारने वह,
विपद् में शत्रु को संहारने वह,
शरों से बेधने तन को, बदन को,
दिखाने वीरता निःशस्त्र जन को।

विशिख-सन्धान में अर्जुन निरत था,
खड़ा राधेय निःसम्बल, विरथ था,
खड़े निर्वाक् सब जन देखते थे,
अनोखे धर्म का रण देखते थे।

नहीं जब पार्थ को देखा सुधरते,
हृदय में धर्म का टुक ध्यान धरते।
समय के योग्य धीरज को संजो कर,
कहा राधेय ने गम्भीर हो कर।

"नरोचित धर्म से कुछ काम तो लो।
बहुत खेले, जरा विश्राम तो लो।
फंसे रथचक्र को जब तक निकालूं,
धनुष धारण करूं, प्रहरण संभालूं,

"रुको तब तक, चलाना बाण फिर तुम,
हरण करना, सको तो, प्राण फिर तुम।
नहीं अर्जुन! शरण मैं माँगता हूँ,
समर्थित धर्म से रण माँगता हूँ।

"कलङ्कित नाम मत अपना करो तुम।
हृदय में ध्यान इसका भी धरो तुम,
विजय तन की घड़ी भर की दमक है।
इसी संसार तक उसकी चमक है।

"भुवन की जीत मिटती है भुवन में,
उसे क्या खोजना गिर करें पतन में?
शरण केवल उजागर धर्म होगा,
सहारा अन्त में सत्कर्म होगा।"

उपस्थित देख यों न्यायार्थ अरि को,
निहारा पार्थ ने हो खिन्न हरि को।
मगर, भगवान् किञ्चित् भी न डोले,
कुपित हो वज्र-सी यह बात बोले।

"प्रलापी! ओ उजागर धर्म वाले!
बड़ी निष्ठा, बड़े सत्कर्म वाले!
मरा, अन्याय से अभिमन्यु जिस दिन,
कहाँ पर सो रहा था धर्म उस दिन?

"हलाहल भीम को जिस दिन पड़ा था,
कहाँ पर धर्म यह उस दिन धरा था?
लगी थी आग जब लाक्षा-भवन में,
हंसा था धर्म ही तब क्या भुवन में?

"सभा में द्रौपदी को खींच ला के,
सुयोधन की उसे दासी बता के,
सुवामा-जाति को आदर दिया जो,
बहुत सत्कार तुम सबने किया जो,

"नहीं वह और कुछ, सत्कर्म ही था,
उजागर, शीलभूषित धर्म ही था।
जुए में हारकर धन-धाम जिस दिन,
हुए पाण्डव यती निष्काम जिस दिन,

लगा राधेय को शर मारने वह,
विपद् में शत्रु को संहारने वह,
शरों से बेधने तन को, बदन को,
दिखाने वीरता निःशस्त्र जन को।

विशिख - सन्धान में अर्जुन निरत था,
खड़ा राधेय निःसम्बल, विरथ था,
खड़े निर्वाक् सब जन देखते थे,
अनोखे धर्म का रण देखते थे।

नहीं जब पार्थ को देखा सुधरते,
हृदय में धर्म का टुक ध्यान धरते।
समय के योग्य धीरज को सँजो कर,
कहा राधेय ने गम्भीर हो कर।

"नरोचित धर्म से कुछ काम तो लो।
बहुत खेले, जरा विश्राम तो लो।
फँसे रथचक्र को जब तक निकालूँ,
धनुष धारण करूँ, प्रहरण सँभालूँ,

"रुको तब तक, चलाना बाण फिर तुम,
हरण करना, सको तो, प्राण फिर तुम।
नहीं अर्जुन! शरण मैं माँगता हूँ,
समर्थित धर्म से रण माँगता हूँ।

"कलङ्कित नाम मत अपना करो तुम।
हृदय में ध्यान इसका भी धरो तुम,
विजय तन की घड़ी भर की दमक है।
इसी संसार तक उसकी चमक है।

"भुवन की जीत मिटती है भुवन में,
उसे क्या खोजना गिर करे पतन में?
शरण केवल उजागर धर्म होगा,
सहारा अन्त में सत्कर्म होगा।"

उपस्थित देख यों न्यायार्थ अरि को,
निहारा पार्थ ने हो खिन्न हरि को।
मगर, भगवान् किञ्चित् भी न डोले,
कुपित हो वज्र-सी यह बात बोले।

"प्रलापी! ओ उजागर धर्म वाले!
बड़ी निष्ठा, बड़े सत्कर्म वाले!
मरा, अन्याय से अभिमन्यु जिस दिन,
कहाँ पर सो रहा था धर्म उस दिन?

"हलाहल भीम को जिस दिन पड़ा था,
कहाँ पर धर्म यह उस दिन धरा था?
लगी थी आग जब लाक्षा-भवन में,
हंसा था धर्म ही तब क्या भुवन में?

"सभा में द्रौपदी को खींच ला के,
सुयोधन की उसे दासी बता के,
सुवामा-जाति को आदर दिया जो,
बहुत सत्कार तुम सबने किया जो,

"नहीं वह और कुछ, सत्कर्म ही था,
उजागर, शीलभूषित धर्म ही था।
जुए में हारकर धन-धाम जिस दिन,
हुए पाण्डव यती निष्काम जिस दिन,

"चले वनवास को तब धर्म था वह,
शकुनियों की नहीं अपकर्म था वह।
अवधि कर पूर्ण जब, लेकिन, फिरे वे,
असल में, धर्म से ही थे गिरे वे।

"बड़े पापी हुए जो ताज माँगा,
किया अन्याय; अपना राज माँगा।
नहीं धर्मार्थ वे क्यों हारते हैं?
अधी हैं, शत्रु को क्यों मारते हैं?

"हमीं धर्मार्थ क्या दहते रहेंगे?
सभी कुछ मौन हो सहते रहेंगे?
कि देंगे धर्म को बल अन्य जन भी?
तजेंगे क्रूरता - छल अन्य जन भी?

"न दी क्या यातना इन कौरवों ने?
किया क्या - क्या न निर्घिन कौरवों ने?
मगर, तेरे लिए सब धर्म ही था,
दुरित निज मित्र का, सत्कर्म ही था।

"किये का जब उपस्थित फल हुआ है,
ग्रसित अभिशाप से सम्बल हुआ है,
चला है खोजने तू धर्म रण में,
मृषा किल्विष बताने अन्य जन में।

"शिथिल कर पार्थ! किञ्चित् भी न मन तू।
न धर्माधर्म में पड़ भीरु बन तू।
कड़ा कर वक्ष को, शर मार इसको,
चढ़ा शायक, तुरत संहार इसको।"

हँसा राधेय, "हाँ अब देर भी क्या?
सुशोभन कर्म में अवसेर भी क्या?
कृपा कुछ और दिखलाते नहीं क्यों?
सुदर्शन ही उठाते हैं नहीं क्यों?

"कहा जो आपने, सब कुछ सही है,
मगर, अपनी मुझे चिन्ता नहीं है।
सुयोधन - हेतु ही पछता रहा हूँ,
बिना विजयी बनाये जा रहा हूँ।

"वृथा है पूछना किसने किया क्या,
जगत् के धर्म को सम्बल दिया क्या!
सुयोधन था खड़ा कल तक जहाँ पर,
न हैं क्या आज पाण्डव ही वहाँ पर?

"उन्होंने कौन - सा अपधर्म छोड़ा?
किये से कौन कुत्सित कर्म छोड़ा?
गिनाऊँ क्या? स्वयं सब जानते हैं,
जगद्गुरु आपको हम मानते हैं,

"शिखण्डी को बनाकर ढाल अर्जुन,
हुआ गांगेय का जो काल अर्जुन,
नहीं वह और कुछ, सत्कर्म ही था!
हरे! कह दीजिये, वह धर्म ही था।

"हुआ सात्यकि बली का त्राण जैसे,
गये भूरिश्रवा के प्राण जैसे,
नहीं वह कृत्य नरता से रहित था,
पतन वह पाण्डवों का धर्म - हित था।

"कथा अभिमन्यु की तो बोलते हैं,
नहीं पर, भेद यह क्यों खोलते हैं ?
कुटिल षड्यन्त्र से रण से विरत कर,
महाभट द्रोण को छल से निहत कर,

"पतन पर दूर पाण्डव जा चुके हैं,
चतुर्गुण मोल बलि का पा चुके हैं।
रहा क्या पुण्य अब भी तोलने को ?
उठा मस्तक, गरज कर बोलने को ?

"वृथा है पूछना, था दोष किसका ?
खुला पहले गरल का कोष किसका ?
जहर अब तो सभी का खुल रहा है,
हलाहल से हलाहल धुल रहा है।

"जहर की कीच में ही आ गये जब,
कलुष बन कर कलुष पर छा गये जब,
दिखाना दोष फिर क्या अन्य जन में,
अहं से फूलना क्या व्यर्थ मन में ?

"सुयोधन को मिले जो फल किये का,
कुटिल परिणाम द्रोहानल पिये का,
मगर, पाण्डव जहाँ अब चल रहे हैं,
विकट जिस वासना में जल रहे हैं,

"अभी पातक बहुत करवायगी वह,
उन्हें जानें, कहाँ ले जायगी वह।
न जानें वे इसी विष से जलेंगे,
कहीं या बर्फ में जाकर गलेंगे ?

"सुयोधन पूत या अपवित्र ही था,
प्रतापी वीर मेरा मित्र ही था।
किया मैंने वही, सत्कर्म था जो,
निभाया मित्रता का धर्म था जो।

"नहीं किञ्चित् मलिन अन्तर्गगन है,
कनक-सा ही हमारा स्वच्छ मन है;
अभी भी शुभ्र उर की चेतना है,
अगर है, तो यही बस, वेदना है।

"वधूजन को नहीं रक्षण दिया क्यों?
समर्थन पाप का उस दिन किया क्यों?
न कोई योग्य निष्कृति पा रहा हूँ,
लिये यह दाह मन में जा रहा हूँ।

"विजय दिलवाइये केशव! स्वजवन को,
शिथिल, सचमुच, नहीं कर पार्थ! मन को।
अभय हो बेधता जा अङ्ग अरि का,
द्विधा क्या, प्राप्त है, जब सङ्ग हरि का!

"मही! ले सौंपता हूँ आप रथ मैं,
गगन में खोजता हूँ अन्य पथ मैं।
भले ही लील ले इस काठ को तू;
न पा सकती पुरुष विभ्राट् को तू।

महा निर्वाण का क्षण आ रहा है, नया आलोक-स्यन्दन आ रहा है,
तपस्या से बनें हैं यन्त्र जिसके, कसे जप याग से हैं तन्त्र जिसके;
जुते हैं कीर्त्तियों के वाजि जिसमें, चमकती है किरण की राजि जिसमें;
हमारा पुण्य जिसमें झूलता है, विभा के पद्म-सा जो फूलता है।

रचा मैंने जिसे निज पुण्य-बल से, दया से, दान से, निष्ठा अचल से ;
हमारे प्राण - सा ही पूत है जो, हुआ सद्धर्म से उद्भूत है जो ;
न तत्त्वों की तनिक परवाह जिसको, सुगम सर्वत्र ही है राह जिसको ;
गगन में जो अभय हो घूमता है, विभा की ऊर्मियों पर झूमता है।

"अहा ! आलोक - स्यन्दन आन पहुँचा,
हमारे पुण्य का क्षण आन पहुँचा।
विभाओ सूर्य की ! जय - गान गाओ,
मिलाओ, तार किरणों के मिलाओ।

"प्रभा - मण्डल ! भरो झङ्कार, बोलो !
जगत् की ज्योतियो ! निज द्वार खोलो !
तपस्या रोचिभूषित ले आ रहा हूँ,
चढ़ा मैं रश्मि - रथ पर आ रहा हूँ।'

गगन में बद्ध कर दीपित नयन को,
किये था कर्ण जब सूर्यस्थ मन को,
लगा शर एक ग्रीवा में सँभल के,
उड़ी ऊपर प्रभा तन से निकल के !

गिरा मस्तक मही पर छिन्न होकर !
तपस्या - धाम तन से भिन्न होकर।
छिटक कर जो उड़ा आलोक तन से,
हुआ एकात्म वह मिलकर तपन से !

उठी कौन्तेय की जयकार रण में,
मचा घनघोर हाहाकार रण में।
सुयोधन बालकों - सा रो रहा था !
खुशी से भीम पागल हो रहा था !

फिरे आकाश से सुरयान सारे,
नतानन देवता नभ से सिधारे।
छिपे आदित्य होकर आर्त्त घन में,
उदासी छा गयी सारे भुवन में।

युधिष्ठिर प्राप्त कर निस्तार भय से,
प्रफुल्लित, हो बहुत दुर्लभ विजय से,
दृगों में मोद के मोती सजाये,
बड़े ही व्यग्र हरि के पास आये।

कहा, "केशव! बड़ा था त्रास मुझको,
नहीं था यह कभी विश्वास मुझको,
कि अर्जुन यह विपद् भी हर सकेगा,
किसी दिन कर्ण रण में मर सकेगा।

"इसी के त्रास में अन्तर पगा था,
हमें वनवास में भी भय लगा था।
कभी निश्चिन्त मैं क्या हो सका था?
न तेरह वर्ष सुख से सो सका था।

"बली योद्धा बड़ा विकराल था वह!
हरे! कैसा भयानक काल था वह?
मुषल विष में बुझे थे, बाण क्या थे!
शिला निर्मोघ ही थी, प्राण क्या थे!

"मिला कैसे समय निर्भीत है यह?
हुई सौभाग्य से ही जीत है यह।
नहीं यदि आज ही वह काल सोता,
न जानें क्या समर का हाल होता?"

उदासी में भरे भगवान् बोले,
"न भूलें आप केवल जीत को ले।
नहीं पुरुषार्थ केवल जीत में है?
विभा का सार शील पुनीत में है?

"विजय, क्या, जानिये, बसती कहाँ है?
विभा उसकी अजय हँसती कहाँ है?
भरी वह जीत के हुङ्कार में है,
छिपी अथवा लहू की धार में है?

"हुआ जानें नहीं, क्या आज रण में?
मिला किसको विजय का ताज रण में?
किया क्या प्राप्त? हम सबने दिया क्या?
चुकाया मोल क्या? सौदा लिया क्या?

"समस्या शील की, सचमुच गहन है।
समझ पाता नहीं कुछ क्लान्त मन है।
न हो निश्चिन्त कुछ अवधानता है।
जिसे तजता, उसी को मानता है।

"मगर, जो हो, मनुज सुवरिष्ठ था वह।
धनुर्धर ही नहीं, धर्मिष्ठ था वह।
तपस्वी, सत्यवादी था, व्रती था,
बड़ा ब्रह्मण्य था, मन से यती था!

"हृदय का निष्कपट, पावन क्रिया का,
दलित-तारक, समुद्धारक त्रिया का।
बड़ा बेजोड़ दानी था, सदय था,
युधिष्ठिर! कर्ण का अद्भुत हृदय था।

"किया किसका नहीं कल्याण उसने ?
दिये क्या - क्या न छिपकर दान उसने ?
जगत् के हेतु ही सर्वस्व खोकर
मरा वह आज रण में निःस्व होकर।

"उगी थी ज्योति जग को तारने को।
न जनमा था पुरुष वह हारने को।
मगर, सब कुछ लुटा कर दान के हित,
सुयश के हेतु, नर - कल्याण के हित।

"दया कर शत्रु को भी त्राण देकर,
खुशी से मित्रता पर प्राण देकर,
गया है कर्ण भू को दीन करके,
मनुज - कुल को बहुत बलहीन करके।

"युधिष्ठिर ! भूलिये, विकराल था वह,
विपक्षी था, हमारा काल था वह।
अहा ! वह शील में कितना विनत था ?
दया में, धर्म में कैसा निरत था !

"समझ कर द्रोण मन में भक्ति भरिये,
पितामह की तरह सम्मान करिये।
मनुजता का नया नेता उठा है।
जगत् से ज्योति का जेता उठा है !"

□

टिप्पणियाँ

प्रथम सर्ग

पुनीत अनल=पुण्यवश ही तो अग्निदेव न केवल स्वयं पवित्र, बल्कि, पवित्र करने वाले हैं। वस्तुतः, यहाँ 'पुनीत' शर्त्त है। महाभारत-काल में मत था कि समस्त अस्तित्व पाँच महाभूतों (भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश) का नाना रूप है। मनुष्य की प्रकृति में अग्नि के लक्षण—तेज, पवित्रता, निर्भयता, ज्योतिकामना आदि हैं। किन्तु, नींद, आलस्य, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, निर्ममता आदि भी तो इसी के लक्षण हैं। अतः, अग्नि के मात्र अच्छे लक्षणों को नमस्कार ; उन्हीं की जयकामना।

वृन्त=प्रसवबन्धन। फल-फूल को जड़। भेंटी। **नमस्य**=नमस्कार करने योग्य।

इतिहास में लीक खींचना=अभूतपूर्व कार्य कर दिखाना। **द्वन्द्व युद्ध**=वह युद्ध, जिसमें केवल दो परस्पर लड़ें।

कृपाचार्य=महर्षि गौतम के पुत्र शरद्वान् थे, जो वाणों के साथ पैदा हुए थे। उनके यहाँ एक पुत्र कृप या कृपाचार्य और एक कन्या कृपी का जन्म हुआ। महाराज शान्तनु ने उन दोनों का पालन-पोषण किया। कृप धनुर्विद्या में निष्णात थे।

भरतवंश=भरत, दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र थे। उसी वंश में संवरण हुए जिन्होंने भरतवंश का यशोविस्तार किया। संवरण के पुत्र कुरु थे, कौरव-पाण्डव इसी वंश के विस्तार थे। इसी से ये लोग कुरुवंशी भी कहलाए। **अवतंस**=भूषण। **श्वपच**=कुत्ते का मांस पकाने-खाने वाला, चाण्डाल।

अङ्गदेश=गंगा-तट पर स्थित प्राचीन राज्य। वर्तमान बिहार के भागलपुर और मुंगेर आदि जिले। **हया**=लाज। **प्रतिबल**=जोड़ का बली, प्रतिद्वन्द्वी।

द्वितीय सर्ग

विरल=जो सघन न हो, छिदरा। **अधित्यका**=पहाड़ पर की समतल भूमि। **प्रस्रवण**=झरना। **उटज**=तृण-कुटी। **तन्द्रिल**=ऊँघते। **लेहन**=चाटना। **शाकल्य**=हवन-सामग्री (के बचे टुकड़े)। **छदन**=पत्ते। **आतप**=धूप। **रोमन्थन**=पागुर। **विवर**=छिद्र, माँद। **विश्रब्ध**=निर्भीक, आश्वस्त। **चीवर**=मुनि-वस्त्र। **इंगुद**=हिंगोट। जिसका तेल जलता था और जिससे स्त्रियाँ श्रृङ्गार के लिए हाथ-पाँव भी रँगती थीं। **अजिन**=मृगछाला। **दर्भ**=कुशासन। **पालाश**=पलाश का यज्ञोपयोगी खण्ड। **स्रुवा**=यज्ञीय पात्र, जिससे घृत की आहुति दी जाती है।

मन ने तन का सिद्ध-यन्त्र....पाया है=मन की सिद्धि : इन्द्रियों पर विजय पाना। तन की सिद्धि हुई शारीरिक विजय। अस्त्र-शस्त्र इस विजय के साधन हैं। **क्लीव**=नपुंसक।

षड्विकार=शारीरिक परिवर्त्तन प्रत्येक जीव में छह प्रकार के स्पष्ट रूपों में दिखते हैं : १. जन्म, २. नवजात का बढ़कर बाल्यावस्था में पहुँचना, ३. लड़कपन, ४. जवानी, ५. बुढ़ापा, ६. मृत्यु। यदि जीव को जन्म लेना पड़ा तो शेष विकार अवश्यम्भावी हैं। अतः पुनर्जन्म रूपी भयावह विकार से बचने के लिए इस जन्म का कठोरतापूर्वक सदुपयोग तपस्या है जिसे षड्विकारों से लड़ना कहा है। १. काम, २. क्रोध, ३. मद, ४. लोभ, ५. मात्सर्य और ६. अहङ्कार भी छह मूल विकार माने गये हैं।

मुख में वेद""ऋषि के सम्बल=परशुरामजी में क्षात्त्र-शौर्य भी था और ब्राह्म तेज भी। उनके विषय में एक श्लोक प्रसिद्ध है : "मुखे तु सकलं शास्त्रं पृष्ठे च सशरं धनुः, इदं ब्राह्मम् इदं क्षात्त्रं शापादपि शरादपि ॥" उनके मुख में सब शास्त्र (ब्राह्मणत्व) और पीठ पर बाण-युक्त धनुष (क्षत्त्रियत्व) है। वे शाप और शर दोनों से काम ले सकते हैं। **मुग्ध**=मोहित।

कर लेना"""के आने पर=चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) में, संन्यास तपस्या की उम्र है।

शिलोञ्छवृत्ति=(शिल=खेत में गिरी बालियाँ चुनना ; उञ्छ=आश्रमों आदि के रसोईघरों में पका, बिना खाया, बचा हुआ अन्न सुखाकर खाने के लिए रखना। वृत्ति=आजीविका।) कुछ तपस्वी ब्राह्मण न तो खेती करते थे, न भिक्षाटन। किसान के खेत काट लेने के बाद वे बिखरी बालियाँ-दाने चुन लेते थे। उसका आधा वे कृषक को दे आते थे और शेष से अपनी जीविका चलाते थे। फसल के दिन बीतने पर भण्डारों का सुखाया हुआ बचा अन्न उनका भोजन था। जीवनयापन की इन्हीं विधियों का नाम शिलोञ्छवृत्ति है।

वेश्म=गृह। **परशोषक**=दूसरों के शोषक। **कल्पित अभाव**=जो अभाव वस्तुतः है नहीं। **शंख-गंगाजल**=पूजा के सामान।

जो भी खिलता...जाता है=सभी उत्पादन क्षत्रियों (राज-वर्ग) के अधिकार में अनुचित ढंग से चले जाते हैं। **भुजा**=क्षत्रिय, जो ब्रह्माजी के बाहु से उत्पन्न माने जाते हैं।

विप्र जाति के...उठाने दो=कोमलता-युक्त कठोरता, धीरता-वीरता के साथ तपस्या ; और, मानवता के महागुणों की पहचान—की यह शर्तें विप्रों के अतिरिक्त दूसरे लोग नहीं पूरी कर सकते। अतः दूसरों के शस्त्र-धारण का परशुराम जी निषेध करते थे। **वज्रदंष्ट्र**=वज्रकीट, पत्थर और लकड़ी तक छेद डालने वाला कीड़ा। **उरु**=जाँघ। **अभिजन**=कुलसमूह, वंश। **अन्तेवासी**=गुरु के पास रहकर शिक्षा पाने वाला।

कार्त्तवीर्य=सहस्रार्जुन नामक कभी न हारा हुआ राजा। परशुराम जी के पिता, जमदग्नि ऋषि के आश्रम में, उसने बहुत ऊधम मचाया, परशुराम जी ने दण्डस्वरूप उसे मार डाला।

किल्विष=पाप। **निःसंग**=अकेला।

तृतीय सर्ग

खम ठोंकना=भुजाएँ अपने हाथों ठोंकना। अपने बाहुबल के भरोसे भिड़ना। **परिधि-बन्ध**=क्षितिज, चक्रवाल। **मैनाक-मेरु**=दो पौराणिक पर्वत। **निकर**=राशि। **अकाण्ड**=आकस्मिक। **मन्द्र**=मन्दर=पर्वत। **जिष्णु**=इन्द्र जो सदा जीते। **जलपति**=वरुण। **धनेश**=कुबेर। **लोकपाल**

=दिक्पाल, जिनकी संख्या दस है। **वायस**=कौवा। **धृतराष्ट्र विदुर सुख पाते थे**=विराट् रूप दर्शनार्थ उस समय धृतराष्ट्र को दृष्टि मिल गयी थी। **निरशन**=अशन (भोजन) से हीन। **अघटनीय**=असम्भव। **पृथा**=कुन्ती; इसीलिए अर्जुन का एक नाम पार्थ है। **कुलपाली**=वंश का पालन करनेवाली। **अपरिणीता**=बिन-ब्याही। **प्रत्यय**=विश्वास। **प्रभूत**=बहुत अधिक। **चाकचिक्य**=चकाचौंध। **पीते जो वारि प्रपातों में**=गरुड़। जी, झरने का पानी ऊपर ही पी लेते हैं। **अयन**=गृह। **फणिबन्ध**=नाग-पाश। जब कोई देवता नाग-पाश में बँध जाते हैं, तब उन्हें छुड़ाने को गरुड़ बुलाये जाते हैं। **धरती का हृदय जुड़ाते हैं**=पृथ्वी ने गरुड़ से कहा कि अमृत लाकर मुझे भी दो। गरुड़ स्वर्ग से अमृत ले भागे, किन्तु, उन्हें देख लिया गया। घड़ा उनसे छिन गया। फिर भी थोड़ा अमृत वे पृथ्वी पर ले ही आये। **कीजै, दीजै**='कीजिये' और 'दीजिये' के पुराने रूप। **अवसेर**=विलम्ब।

चतुर्थ सर्ग

अनल्प=अल्प नहीं, अधिक। **जो नर आत्मदान से""भरता है**=आत्मत्याग, अपने को ही पूर्ण करना है। **जहाँ कहीं है""मोल चुकाने वाला**=संसार में जहाँ से भी प्रकाश आ रहा है, वहाँ कोई ऐसा व्यक्ति खड़ा है, जिसने आत्मत्याग किया है, जिसने अपने व्रत की अन्तिम कीमत चुकायी है; उदाहरण के रूप में आगे आत्मत्यागियों का उल्लेख है:—

१. **दधीचि**=देवताओं ने एक असुर को मारने के लिए दधीचि से उनके मेरुदण्ड की हड्डी माँगी और उन्होंने खुशी-खुशी दे दी। २. **शिवि**=राजा शिवि ने एक कबूतर की जान बचाने लिए अपने शरीर का मांस एक बाज को अर्पित कर दिया था। ३. **सरमद**=सरमद औरङ्गजेब के समय में हुए हैं। वे सूफी या रहस्यवादी सन्त थे। औरङ्गजेब ने उनकी खील खिंचवा ली। क्योंकि वे प्रचलित विश्वास स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। ४. **सुकरात**=यूनान का दार्शनिक, जिसे सिद्धान्त की रक्षा के लिए जहर का प्याला पीकर मरना पड़ा। ५. **मनसूर**=मनसूर ईरान के सूफी सन्त थे। वे 'अनलहक'

—'मैं सत्य-ब्रह्म हूँ' पुकारने के कारण मारे गये। किन्तु, उनके मृत शरीर से भी 'अनलहक़' की पुकार आती रही। अत्याचारियों ने उनके शरीर की बोटी-बोटी कटवा दी; फिर भी प्रत्येक बोटी से वही आवाज निकलती रही।

किया नियति······छिपकर पुण्य विवर से=भाग्य ने पुण्य के छिद्र से होकर कर्ण पर वार किया। कवच-कुण्डल कर्ण को इसलिए देना पड़ा कि वह व्रत लिये हुए था कि पूजा के समय जो भी व्यक्ति जो कुछ माँगेगा, उसे वह वस्तु अवश्य दूंगा। **निकष**=कसौटी। **आकटक**=कमर तक। **वीरुध**=काट देने पर भी पुनः हरे-भरे हो जाने वाले पौधे। बहुत डालों वाली लता। **हरि के मायाचर**=विष्णु के भेजे हुए मायावी गुप्तचर। **साकल्य**=सकल, सब कुछ। **केवल गन्ध जिन्हें प्रिय**=देवता केवल सूँघते हैं, जिह्वा से स्वाद नहीं ले सकते। **शरभ**=सिंह से भी बलवान् "अष्टपाद" नामक एक कल्पित पशु। **तनुत्र**=कवच। **परिभव**=अपमान। **भृगुपति**=परशुराम। **अप्रतिम**=अद्वितीय। **सम्बल**=साधन। **निश्रेणि**=सीढ़ी। **मन्द्र**=मनुष्य की पूर्ण कण्ठध्वनि। **गम्भीर**=गहरा। **शील-सिन्धु**=चरित्र रूपी समुद्र। **तिग्म**=प्रखर। **ले अमोघ यह अस्त्र**=एकघ्नी।

पंचम सर्ग

खण्ड प्रलय=एक समय आयेगा, जब सूर्य से आग बरसने लगेगी, पृथ्वी पर भयंकर उपद्रव होगा और सृष्टि नष्ट हो जायगी। **मरीचि**=किरण।

कृतान्त=यमराज। **सितकेशी**=उजले केशवाली। **सम्भ्रममयी**=हलचल में फँसी। **वितर्क**=उधेड़बुन। **चंग**=पतंग। **अरुण**=सूर्य के सारथी। गरुड़ के बड़े भाई। **अर्चि**=अग्नि-शिखा। **विभा-मण्डल**=सूर्य। **प्रवया**=वृद्धा। **विगलित**=मर्माहत। **अंशी**=हिस्सेदार। **शोध**=शुद्ध करने का उपाय। **कसालु**=विरोध।

केशव पर चिन्ता डाल=अर्जुन पर व्यंग्य। **हो चुका धर्म के ऊपर न्योछावर हूँ**=कर्ण दुर्योधन के उपकार का बदला चुकाने को धर्म मानता है। **दारुण**=कठोर। **अपयश**=बदनामी। **अंचल का न्यास**=ममता का प्रेम। **हतप्रभ**=प्रभाहीन। **सह-जेता**=विजय का हिस्सेदार। **छाती के,**

पूर=बड़े साहसी। **आज की रात बड़ी काली है**=महाभारत का आरम्भ अमावस्या को हुआ था। कुन्ती और कर्ण उससे एक दिन पूर्व, अर्थात् कृष्ण चतुर्दशी को मिले थे। यहाँ भावी विनाश एवं दुष्कर्मों का श्लेष है।

षष्ठ सर्ग

उदग्र=ऊँचा, वयोवृद्ध। **द्रोह-दव**=द्रोह-रूपी जंगली आग। **अवगांसी**=निन्दक। **विहित मित्र**=विधान द्वारा बनाये गये मित्र।

संकटापन्न जीवन''''महायान=विपत्तियों से घिरे मनुष्य के जीवन जैसा ही (कौरवों का) जहाज समुद्र के बीच है। **स्वव्रत**=अर्जुन से युद्ध ही कर्ण का व्रत था। **तूर्ण**=शीघ्र। **प्रसन्न**=उन्मुक्त, खुला हुआ। **दण्डधर**=यम। **कीर्ण**=बिखरे हुए। **विशीर्ण**=सूखे। **अप्रतिहत**=जिसे रोकनेवाला कोई न हो। **सुपर्ण**=बड़े शिकारी पक्षी। गरुड़। **कुड्मल**=अधखिली कली। **किंशुक**=खिले पलाश-सी लाल। **वह चली मनुज''''धोकर**=मनुष्य-रक्त, पशुओं के पाँव धोने लगा। मनुष्यता का अनादर हुआ। **क्या कहें धर्म''चला**=धारणा यह है कि महाभारत में अन्याय केवल कौरवों ने किया। यहाँ, संकेत है कि अन्याय दोनों ने किया। **अन्तक**=यम। **ज्यायान्**=बहुत बूढ़ा। **विपर्यस्त**=कुछ का कुछ।

सिर कटा जयद्रथ''चूर्ण हुआ=जयद्रथ के पिता को शंकर से वरदान मिला था कि जिसके द्वारा जयद्रथ का मस्तक पृथ्वी पर गिरे, उसके मस्तक के सौ टुकड़े हो जायें। भगवान् कृष्ण को यह ज्ञात था। जिस समय अर्जुन ने जयद्रथ का वध किया, उस समय उसका पिता कुरुक्षेत्र से दूर तप कर रहा था। अर्जुन ने जयद्रथ का मस्तक इस प्रकार उड़ा दिया कि वह उसके पिता की गोद में जा गिरा। जयद्रथ का पिता, स्वभावतः, घबराकर खड़ा हो गया। जयद्रथ का मस्तक उसके पिता की ही गोद से भूमि पर गिरा, अतः, बेचारे तपस्वी के मस्तक के सौ टुकड़े हो गये।

हाँ यह भी हुआ''योग निरत=भूरिश्रवा सात्यकि को पछाड़ कर चढ़ बैठे, कि भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को इशारा किया, 'अर्जुन! तुम्हारा शिष्य अब मरने वाला है।' अर्जुन ने तुरन्त बाण से भूरिश्रवा की बाँह काट डाली।

इस अन्याय के विरोध में भूरिश्रवा युद्धस्थल में ही मौन हो तपस्यार्थ बैठ गये। तभी सात्यकि ने धर्माधर्म का विचार किये बिना भूरिश्रवा की गरदन काट ली। **मुनि-व्रत**=तपस्या। **विग्रह**=शत्रु का राज्य लूट कर या जलाकर नष्ट कर देने वाला युद्ध। **ग्रथन**=गूँथना, जोड़ मिलाना।

जीवन के परम' 'जाता है=जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य सुख है। सुख की प्राप्ति अधर्म से भी हो सकती है, किन्तु, अधर्म त्याज्य है। धर्म में प्रधानता सुख की नहीं, साधन की है। **प्रधन**=विनाश।

तब भी' 'अंगारों को=जैन महात्माओं, बुद्ध, ईसा और गाँधी की शिक्षा के अनुसार युद्ध सदा निन्दनीय है। यह मनुष्य का नहीं, पशु का स्वभाव है ; अतएव, मनुष्य को चाहिये कि अपने विवाद का हल वह शान्तिमय उपायों से निकाले। दूसरी विचारधारा के अनुसार—अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति यदि शान्ति से सम्भव न हो, तो युद्ध अनिवार्य है। प्रस्तुत पंक्तियों का भाव यह है कि युद्ध, किसी भी अवस्था में धर्म नहीं है। धर्म फूल है और युद्ध अङ्गार। दोनों को एक ही माला में गूँथना सम्भव नहीं।

वासना-वह्नि से जो निकला=युद्ध की स्थिति अतृप्त वासना की अधीरता के कारण आती है जो एक ज्वाला है। इससे कोमलता की आशा नहीं की जा सकती। **संयुग**=युद्ध। **विजय-द्वन्द्व**=जीत का संघर्ष। **प्रतिभट**=प्रतियोगी वीर। **द्वैरथरण**=केवल दो रथियों का युद्ध। **एकघ्नी** =इन्द्र से प्राप्त अस्त्र, जो एक ही व्यक्ति का हनन कर लौट जाने वाला था। **एकघ्निहव्य**=एकघ्नी का शिकार। **घटोत्कच**=हिडिम्बा नामक एक राक्षसी से उत्पन्न भीम का भयानक वीर पुत्र। **किमाकार**=अद्भुत और भयानक आकारवाला। **अनी**=सेना।

है कथा' 'जोर=राक्षस माया-युद्ध करते थे। अनेक हो जाना, अन्धकार फैल देना, अस्थि और रक्त बरसा देना, आदि—इसी माया के खेल थे। घटोत्कच रात में युद्ध करने आया था और रात में राक्षसों का बल बहुत बढ़ जाता था। **अजस्र-शर-वृष्टि-निरत**=लगातार बाण बरसाने में संलग्न। **विवर्ण**=फीका-पड़ा हुआ। **सुन सहम उठा राधेय**=कर्ण एकघ्नी अर्जुन-

हनन के लिए जुगाये था। दुर्योधन ने घटोत्कच पर ही इसे व्यय कराना चाहा, इससे कर्ण स्तम्भित रह गया। **स्वसा**=बहन। **घातकता**=मृत्यु। **अनल-रसा**=आग-सी, मजा चखा देने वाली, निश्चित नाशक। **क्या हुई**··**विगत-संशय**=कृष्ण को संशय था कि कर्ण अर्जुन पर एकघ्नी चला बैठा, तो अर्जुन की रक्षा कैसे होगी, अब वह संशय जाता रहा। **प्रीत**=प्रसन्न। **वलयित**=घिरा हुआ। **जयघोष की झङ्कार से··सोया हुआ**=विजय से निराश ; मन से उस जगह पहुँचा हुआ, जहाँ विजय नहीं, कोई और चिन्ता थी। **चमू**=सेना।

सप्तम सर्ग

भेरी=नगाड़ा। **पटह**=बड़ा ढोल। **कम्बु**=शङ्ख। **शस्त्री**=छुरी। **मसृण**=नर्म, अकठोर। **रोषण**=क्रुद्ध। **मुनिकल्प**=मुनिवत् तपः-क्षीण। **हाँ भीरु नहीं··बचाये देता हूँ**=युधिष्ठिर अपने समय में बड़े आदरणीय थे। अतएव, कर्ण ने भी उनके साथ शील निभाया। **अदृश्य**=वह शक्ति जो मनुष्य के कार्यों का लेखा-जोखा रखती है। **पवि-तन**=वज्राङ्ग (भीम)।

रे सूतपुत्र किसलिए··डरता है=युधिष्ठिर का मामा शल्य रथ चलाने में बहुत चतुर था। अनुमान था कि कर्ण शल्य को ही सारथी बनायेगा। युधिष्ठिर ने शल्य से कह रक्खा था कि कर्ण का रथ हाँकते समय उसे हतोत्साह करते रहिये। दुर्योधन ने जब शल्य से कर्ण का रथ हाँकने को कहा, तब शल्य ने शर्त्त लगा दी कि 'मेरे मुख से जो निकले, कर्ण उसका प्रतिवाद न करे, तो मैं रथ हाँक सकता हूँ।' इसीलिए शल्य ऐसी कठोर बातें कर सका और उसकी कटूक्तियों को कर्ण सहता रहा। **कालपृष्ठ**=कर्ण का धनुष।

वह कथा नहीं··कहने की है=कर्ण ने कुन्ती को दिया गया वचन गुप्त रखा। **ये चार फूल**=अभय-दान पाये चारों पाण्डव। **अदृष्ट**=भाग्य। **वानरी ध्वजा**=अर्जुन के रथ की ध्वजा पर हनुमान जी विराजते थे, इसलिए अर्जुन का एक नाम 'कपिध्वज' है। **दम्भोलि-नाद**=बिजली की-सी कड़क। **प्रकृति के अनल तत्त्व**=क्रोध, युद्ध-भावना।

रविकान्त-हृदय=सूर्य के प्रकाश से सूर्यकान्त मणि दीप्त होता है। कर्ण के उत्साह की किरणों से अर्जुन का हृदय उसी के समान दहक उठा। **प्रावृट्**=वर्षा ऋतु, बादल। **शितिकण्ठ**=शंकर। **शरव्य**=शर का लक्ष्य, यानी अर्जुन। **प्रतिबल के बध''लेते हैं**=प्रतियोगी से लड़ने में नीच की सहायता लेना सर्प की सहायता लेने के समान है। **काकोदर**=सर्प। **निर्जर**=देव, जरामुक्त। **द्विरद**=दो दाँतोंवाला, हाथी। **अन्तर्नभ के भी विवस्वान**=हृदयाकाश के सूर्य, कर्ण के आत्मतेज की ओर संकेत है। **अन्तर्नभ**=अन्तर्गगन=हृदयाकाश=अन्तःस्थ ब्रह्म। **विवस्वान्**=सूर्य। **मृत्तिका-पुञ्ज''अधिकारी है**=कर्ण की इस प्रशंसा में भगवान् का यह संकेत है कि अब इसे स्वर्ग भेजो।

क्या धमकाता है''स्वच्छन्द करूँ=काल ही मृत्यु है, वही जन्म भी लाता है। कर्ण का आशय है कि अरे मैं क्षण-भर में मोक्ष पानेवाला हूँ। अतएव अरे काल, तुझे मुट्ठी में बन्द करके अपने जीवन से तेरा अस्तित्व समाप्त करूँगा। यहाँ उसे मृत्यु का पूर्वाभास हो रहा है। **दन्तावल**=हाथी। **तिग्म**=प्रखर, अधिक गर्म।

हँसा राधेय कर कुछ याद मन में=एक बार आखेट करते हुए कर्ण के बाण से एक ब्राह्मण की गाय मर गयी। ब्राह्मण ने कर्ण को शाप दिया कि अन्त समय में पृथ्वी तेरे रथ के चक्के ग्रस लेगी। कर्ण को वही शाप याद आया और वह मृत्यु को समीप जानकर हँसा।

जगाकर पार्थ को=कर्ण की आकस्मिक विपत्ति को चुपचाप देख रहे अर्जुन को भगवान् ने युद्ध की याद दिलायी। **विश्वगुरु**=कृष्ण। **देशना**=उपदेश। **एषणा**=इच्छा। **क्रिया को छोड़ चिन्तन''में फँसेगा**=कृष्ण अर्जुन को सावधान करते हैं कि वह ऊहापोह में न फँसे; वरना, अवसर उसके हाथ से निकल जायगा और कर्ण ही इस स्थिति में आ जायगा कि उसे मार डाले। **शिष्टि**=आज्ञा। **निःसम्बल**=साधन-विहीन। **प्रहरण**=हथियार।

विजय तन की' ' चमक है=मनुष्य अधर्म के रास्ते से आत्मा को मारकर शारीरिक विजय प्राप्त करता है ; ऐसी विजय से भी यश और सुख तो मिलता है, किन्तु, यह इसी लोक तक है। परलोक में ऐसी विजय पतन का कारण बनती है।

लगी थी आग ' भुवन में=पाण्डवों को जला डालने के लिए दुर्योधन ने लाख का एक महल बनवाया था, किन्तु वे बचकर निकल भागे। लाक्षागृह से आग की जो लपटें उठीं, उन्हीं में धर्म के हँसने का रूपक है।

सुवामा=नारी। **शकुनियों**=शकुनि और उस जैसे लोग। **न दी क्या यातना इन कौरवों ने**=इन पंक्तियों में भगवान् कर्ण को लज्जित एवं निरुत्तर करना चाहते हैं और अर्जुन को क्रुद्ध। **दुरित**=अपकर्म। **सम्बल**=साधन (यहाँ रथ)। **न धर्माधर्म में पड़ भीरु बन तू**=लड़ाई में धर्माधर्म का विचार मनुष्य को कायर बना सकता है। **सुशोभन कर्म में अवसेर भी क्या**=भगवान् अर्जुन को जो शिक्षा दे रहे हैं, उसपर कर्ण व्यंग्य करता है। **अवसेर**=देर।

वृथा है पूछना ' व्यर्थ मन में=पहले एक अति करता है, फिर दूसरा। युद्ध चल पड़ता है तो विवेक नष्ट हो ही जाता है। दोषी दोनों होते हैं, किसी एक को दोष क्या देना? बुराई के बदले में भी बुराई की जाये तो वह अच्छाई नहीं हो जाती। **अन्तर्गगन**=मनवासी ब्रह्म।

वधूजन को नहीं रक्खा दिया क्यों=कर्ण पश्चात्ताप करता है कि द्रौपदी-वस्त्र-मोचन में उसने दुर्योधन का साथ क्यों दिया? **निष्कृति**=प्रायश्चित्त। **विजय दिलवाइये ' स्वजन को**=कृष्ण की बहन सुभद्रा अर्जुन की पत्नी थीं। **विभ्राट्**=शीलभूषित, महान् आत्मा।

क्या आलोक-स्यन्दन आ रहा है=यहाँ से आलोक-स्यन्दन अथवा रश्मिरथ का रूपक है, इसकी तुलना रामचरितमानस, लङ्का-काण्ड दोहा सं० ७९ और ८० के बीच की चौपाइयों "सुनहु सखा" ' ' से ' ' "रतिधीर" तक में वर्णित धर्मरथ से कीजिये।

राजि=रेखा (डोरी)। **रश्मिभूषित**=प्रभासमयी, उच्च कोटि की। **एकात्म**=एकाकार। **कौन्तेय**=अर्जुन।

नतानन देवता नभ से सिधारे=कर्ण अन्याय से मारा गया, यह देख देवता दुःखी हुए। **तेरह वर्ष**=वनवास के; पाण्डवों को सदा भय रहता था कि कहीं कर्ण न आ जाय।

शिला-निर्मोघ=चोट करने में अचूक पत्थर। **प्राण**=बल, शक्ति।

विभा का सार शील पुनीत में है=कर्ण को मारने में शील नहीं निभा, शीलभ्रष्ट विजय में सुखद कान्ति कहाँ?

जीत के हुङ्कार=जो पाण्डवों की ओर से उठ रहा है। **लहू की धार**=जो कर्ण के शव से चल रही है। **अवधानना**=मन में धारण करना।

न हो निश्चिन्त ' 'मानता है=गीता में भगवान् ने कहा है कि क्या करें और क्या न करें, इसके निरूपण में बड़े-बड़े पण्डितों को भी मोह या भ्रम होता है। इस द्वन्द्व में यहाँ भगवान् भी ग्रसित दिखाये गये हैं। कर्ण को मारने के लिए अधर्म से काम लिया गया, जो निन्द्य है और यदि कर्ण नहीं मारा जाता, तो पाण्डवों की विजय सन्दिग्ध थी।

सुवरिष्ठ=बहुत बड़ों में भी बड़ा। **ब्रह्मण्य**=ब्राह्मणों का हितकारी।

समुद्धारक त्रिया का=कर्ण नारियों का उद्धारक था, यह निरूपण द्रौपदी चीर-हरण से खण्डित हो जाता है। किन्तु महाभारतेतर ग्रन्थों से यह भासित होता है कि कर्ण स्त्रियों का वैसा ही आदर करता था, जैसा सभी देशों के वीर करते आये हैं।

समझकर ' द्रोण करिये=भगवान् युधिष्ठिर से यह तो नहीं कहते कि कर्ण आपका बड़ा भाई था, वही करने को कहते हैं, जो बड़े भाई के लिए करना चाहिये। **ज्योति का जेता**=पुण्यज्योति पर सदा जयी; कभी पुण्य को विमुख न होने देने वाला।

सम्पूर्ण दिनकर साहित्य

☐काव्य	वर्तमान मूल्य
उर्वशी	७.५०
मृत्ति तिलक	३.००
दिनकर की सूक्तियाँ	४.००
परशुराम की प्रतीक्षा	६.००
रश्मिरथी (सम्पूर्ण)	१०.००
" (संक्षिप्त)	२.५०
कुरुक्षेत्र	३.५०
हुङ्कार	३.५०
रसवन्ती	५.००
द्वन्द्व गीत	२.५०
सामधेनी	५.००
इतिहास के आँसू	५.००
हारे को हरि नाम	१०.००
आत्मा की आँखें	७.००
कोयला और कवित्व	६.००
नील कुसुम	५.००
सीपी और शङ्ख	४.००
नये सुभाषित	२.५०
रेणुका	६.००
दिल्ली	१.५०
नीम के पत्ते	१.५०
बापू	२.५०
चक्रवाल (चयन)	३५.००

☐गद्य	वर्तमान मूल्य
संस्कृति के चार अध्याय	३५.००
हमारी सांस्कृतिक एकता	१०.००
भारतीय एकता	१.५०
चेतना की शिखा	१०.००
राष्ट्रभाषा आन्दोलन और गांधीजी	५.००
लोकदेव नेहरू	७.५०
संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ	१०.००
मेरी यात्राएँ	१०.००
शुद्ध कविता की खोज	२५.००
अर्धनारीश्वर	१२.००
मिट्टी की ओर	१०.००
काव्य की भूमिका	१०.००
पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण	१०.००
साहित्यमुखी	८.००
रेती के फूल	४.००
दिनकर की डायरी	२०.००
उजली आग	१०.००
वेणुवन	५.००
राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता	१०.००
देश-विदेश	१०.००
हे राम !	७.००
धर्म, नैतिकता और विज्ञान	६.००
वट-पीपल	७.००

☐बाल-साहित्य

मिर्च का मजा	बाल-कौतुक काव्य	१.५०
सूरज का ब्याह	"	१.५०
धूपछाँह	"	२.५०
चित्तौर का साका	ओजस्वी गद्य	२.५०
भारत की सांस्कृतिक कहानी	"	२.५०

उदयाचल

राष्ट्रकवि दिनकर पथ,
राजेन्द्र नगर, …

वितरण व्यवस्था :
पाटलिपुत्र पुस्तक केन्द्र,
बी० एम० दास मार्ग, …